॥ श्रीः ॥

गीतामृततरङ्गिणी.

(श्रीमद्भगवद्गीताकी भाषाटीका.)

श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मज पंडित रघुनाथ-
प्रसादजीकृत ।

यह पुस्तक

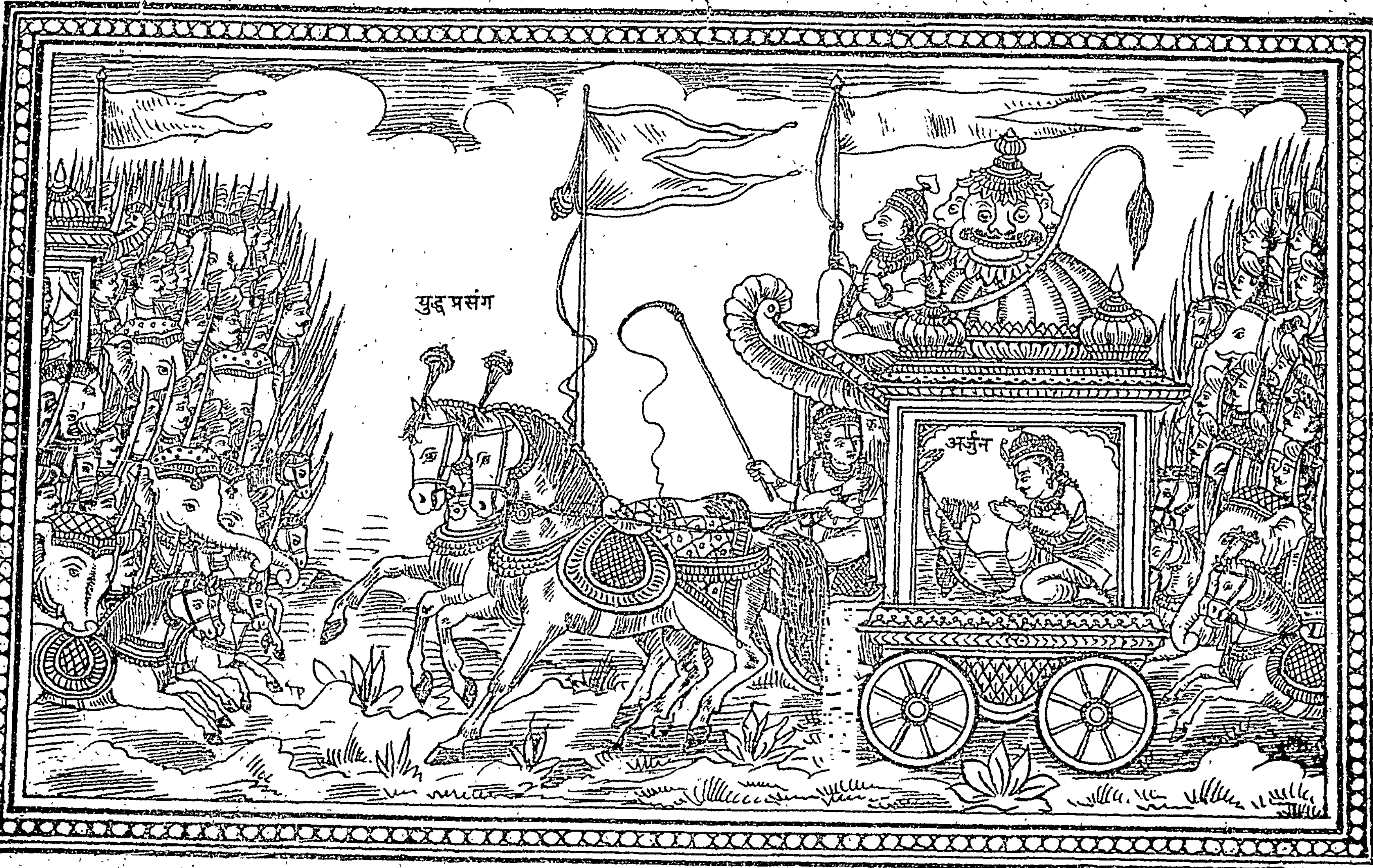
खेमराज श्रीकृष्णदासने

बंबई

निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) यन्त्रालयमें

मुद्रितकर प्रसिद्ध किया ।

शके १८३४ संवत् १९६९.


युद्ध प्रसंग
अर्जुन


व्यासजी
शिष्यमंडळी.
धृतराष्ट्र
संजय



अथश्रीमद्भगवद्गीतार्थवाङ्मयीमूर्तिः ॥ श्लोकौ ॥ वक्त्राणि
पंचजानीहि पंचाध्यायाननुक्रमात् । दशाध्याया भुजाश्चै
कमुदरं द्वौ पदांबुजे ॥ १ ॥ एवमष्टादशाध्यायी वाङ्मयीमूर्तिरै
श्वरी ॥ जानीहि ज्ञानमात्रेण महापातकनाशिनी ॥ २ ॥ ॥

इस मूर्तिमें अंक डालनेका मतलब ये है कि जो जो अध्यायके जो जो अंग हैं उन अंगोंमें उन अध्यायोंके अंक लिखे हैं.


अर्जुन

भूमिका।

हम बडे आनंदसे सर्व सद्धर्मावलंबियोंपर विदित करते हैं कि, यह "भगवद्गीता" ग्रंथ सर्व लोगोंको धर्मग्रंथ शिरोमणिरूपसे मान्य है प्रायः समस्त सनातनधर्माभिमानी विज्ञलोगोंको पाठ आता है. साधारणसेभी साधारण क्यों न हो एक आध श्लोकका तो मुखसे उच्चारण करताही है. ऐसा इस ग्रंथका माहात्म्य है. यह क्यों नहीं हो कि, जो साक्षात् पद्मनाभ भगवान् श्रीकृष्णचंद्रजीने परम भक्त अर्जुनको श्रीमुखसे निरूपण करा है. जिसमें एकएक अक्षर तत्त्वज्ञानसे भराहुआ है. ऐसा यह ग्रंथ है तो इसकी इतनी महिमा होना क्या आश्चर्य है? यह ऐसी गीता सर्व उपनिषदोंके साररूप है श्रीकृष्णजीने इसको निकाली है, अर्जुनजीने इसका प्रथम आस्वाद लिया है. इसके भोक्ता बुद्धिमान् लोग हैं. यह परम पवित्र और चतुर्विध पुरुषार्थको सिद्ध करता है.

ऐसा यह तत्त्वज्ञान महाभारतके भीष्मपर्वमें श्रीव्यासमुनिने ग्रंथरूपसे निरूपण किया है, यह ग्रंथ संस्कृतभाषामें रहनेसे इसका अर्थ समझनेमें साधारण लोगोंको पराधीन करता था. यह न्यूनता देखकर मैंने इस ग्रंथकी "गीतामृततरंगिणी" नामक भाषाटीका निर्माण करी. इसको प्रथम आवृत्तिमें अन्यत्र छपवायाथा. वह आवृत्ति हाथों हाथ बिकगई. इस वास्ते अब इस भाषाटीकाका रजिस्टरी हक् सदाहीके लिये यथोचित पारितोषिक पाकर बडे उत्साहसे श्रीमान् सेठ खेमराज श्रीकृष्णदासजी "श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखानाके अधिपतिको निवेदन किया है. उन सेठ श्रीखेमराज श्रीकृष्णदासजीने यह ग्रंथ परम उत्साहसे अपने "श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखानेमें

सुंदर मनोहर अक्षरोंमें पुष्ट चिकने कागज़पर छापके प्रसिद्ध किया है यह उक्त सेठजीका परम उपकार है.

अब हम आशा रखतेहैं कि, इस अलभ्य मनोहर भाषाटीकासमेत पुस्तकको संग्रह करके भगवदुक्त तत्त्वज्ञानको पायकर परम आनंदका विद्वान् अनुभव करेंगे.

सुकुल सीतारामात्मज-

पण्डित रघुनाथप्रसाद.



॥ श्रीः ॥

अथ श्रीभगवद्गीतामाहात्म्यम् ।

भाषाटीकासमेतम ।

ऋषिरुवाच ।

गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत्सूत मे वद ॥
पुराणमुनिना प्रोक्तं व्यासेन श्रुतिचोदितम् ॥ १ ॥

श्रीर्जयति ॥ नत्वा रामानुजं कृष्णं गीताचार्यं जगद्गुरुम् ॥
गीतामाहात्म्यसद्व्याख्यां कुर्वे प्राकृतभाषया ॥ १ ॥

अनेकप्रकारकी कथा सुनते सुनते शौनकऋषी सूतजीसे प्रश्न करतेभये कि, हे सूत ! जो श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य श्रीव्यासजीने कहा है सो यथावत् मेरेको कहो ॥ १ ॥

सूत उवाच ॥ पृष्टं वै भवता यत्तन्महद्गोप्यं पुरातनम् ॥
केन वा शक्यते वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥

शौनकका प्रश्न सुनिके सूतजी बोले कि, जो तुमने मेरेसे पूंछा यह अतिगोप्य प्राचीन है. अति उत्तम यह गीताका माहात्म्य किसी करिके भी कहनेमें नहीं आता है ॥ २ ॥

कृष्णो जानाति वै सम्यक् क्वचित्कौंतेय एव च ॥
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ॥ ३ ॥

सम्यक्प्रकारसे तो, कृष्णही जानते हैं और किंचित् अर्जुन तथा व्यासजी, शुकदेवजी, याज्ञवल्क्य अथवा जनक जानते हैं ॥ ३ ॥

अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लोके संकीर्त्तयंति च ॥
तस्मात्किंचिद्वदाम्यद्य व्यासस्यास्यान्मया श्रुतम् ४

औरजन कानोंसे सुनिके लोकमें वर्णन भी करते हैं, परंतु जानते नहीं हैं, इसते जैसा मैंने श्रीव्यासजीके मुखारविंदसे सुना है तैसा कुछ थोडा कहूंगा ॥ ४ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः ॥
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत् ॥ ५ ॥

सर्व उपनिषदें तो गऊरूप होतीभईं; दुहनेवाले श्रीकृष्ण और बछरारूपी अर्जुन प्रथम पान करतेभये. पीछे यह गीतारूप दूध अतिमिष्ट लोकमें प्रवर्त्त करतेभये ॥ ५ ॥

सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ॥
सर्वलोकोपकारार्थं तस्मै कृष्णाय ते नमः ॥ ६ ॥

जो भगवान् प्रथम अर्जुनका सारथीपना करते करते सर्वलोकोंके उपकारके वास्ते अर्जुनको गीतारूप अमृत देता भया ऐसे आप श्रीकृष्णको मेरा नमस्कार है ॥ ६ ॥

संसारसागरं घोरं तर्त्तुमिच्छति यो जनः ॥
गीतानावं समारुह्य परं याति सुखेन सः ॥ ७ ॥

जो संसारघोरसागर तरना चाहता होय, सो गीतारूप नावपर बैठके सुखसे पार पाता है ॥ ७ ॥

गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ॥
मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहास्यताम् ॥ ८ ॥

जिसने गीतासंबंधी ज्ञान सदा अभ्यासयोगसे नहीं सुना है और वह मूर्ख मोक्ष चाहता है वह बालकोंकरिके उपहासको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

ये शृण्वंति पठंत्येव गीताशास्त्रमहर्निशम् ॥
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवा एव न संशयः ॥ ९ ॥

जो रातदिन गीता पढते और सुनते हैं वे मनुष्य नहीं, देवताही हैं, ऐसे जानना यहां संशय नहीं ॥ ९ ॥

गीताज्ञानेन संबोध्य कृष्णः प्राह तमर्जुनम् ॥
अष्टादशपदस्थानं गीताध्याये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

श्रीकृष्णभगवान् अर्जुनको गीताके ज्ञानसे प्रबोधिके बोले कि, इसगीताके एकएक अध्यायमें अष्टादशपद जो विष्णु उनका स्थान जो परमपद सो स्थापित किया है ॥ १० ॥

मोक्षस्थानं परं पार्थ सगुणं वाथ निर्गुणम् ॥
सोपानाष्टादशैरेवं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! सगुण अथवा निर्गुण स्वइच्छाप्रमाण मोक्षस्थानपर इन अठारह अध्यायरूप सोपानोंकरिके परब्रह्मको प्राप्त होता है॥ ११॥

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ॥
सकृद्गीतांभसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ १२ ॥

जो दिनदिनप्रति जलस्नान है सो शरीरमलका नाशक है और इसगीतारूप जलका स्नान संसारदुःखरूप मलका नाशक है ॥ १२ ॥

गीताशास्त्रस्य जानाति पठनं नैव पाठनम् ॥
परस्मान्न श्रुतं ज्ञानं नैव श्रद्धा न भावना ॥ १३ ॥
स एव मानुषे लोके पुरुषो विड्वराहकः ॥
यस्माद्गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ॥ १४ ॥

जो गीताशास्त्रका पढना पढावना नहीं जानता है, न दूसरेसे सुना, न जिसके श्रद्धा है और न भावना है सो पुरुष इसलोकमें ग्राम-

सूकरके समान है; जिसते कि, वह गीता नहीं जानता है तिसीसे उसके सिवाय दूसरा अधम नहीं है ॥ १३ ॥ १४ ॥

धिक्तस्य मानुषं देहं धिग्ज्ञानं धिक्कुलीनताम् ॥
गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः ॥ १५ ॥

जो गीतार्थको नहीं जानता है उसके मनुष्यदेहको, ज्ञानको और कुलीनताको धिक्कार है और उससे अधिक कोई अधम नहीं है ॥१५॥

धिक्सुरूपं शुभं शीलं विभवं सद्गृहाश्रमम् ॥
गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ॥ १६ ॥

जो गीताशास्त्रको नहीं जानता है उसके सुंदररूपको, सुंदरशीलको, विभवको और श्रेष्ठगृहाश्रमको धिक्कार है और उसते अधिक अधम दूसरा नहीं है ॥ १६ ॥

धिक् प्रागल्भ्यं प्रतिष्ठां च पूजां मानं महात्मताम् ॥
गीताशास्त्रे रतिर्नास्ति तत्सर्वं निष्फलं जगुः ॥ १७॥

जिसकी गीताशास्त्रमें प्रीति नहीं उसकी हिम्मत, प्रतिष्ठा, पूजा, मान और महात्मापनेको धिक्कार है और उसका सर्व निष्फल है ॥१७॥

धिक्तस्य ज्ञानमाचारं व्रतं चेष्टां तपो यशः ॥
गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः ॥ १८ ॥

जिसके गीतार्थका पठन नहीं है तिसके ज्ञानको तथा आचार, व्रत, चेष्टा, तप और यशको धिक्कार है, उससे अधिक कोई जन अधम नहीं है ॥ १८ ॥

गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यासुरसंज्ञकम् ॥
तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदांतगर्हितम् ॥ १९ ॥

जो ज्ञान गीताका गाया नहीं है उस ज्ञानको आसुरी ज्ञान जा-

नना; वह व्यर्थ और धर्मरहित तथा वेदवेदांतकरिके निंदित है ॥ १९ ॥

यस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ॥
सर्वशास्त्रमयी गीता तस्माद्गीता विशिष्यते ॥ २० ॥

जिसवास्ते कि, गीता धर्ममयी और सर्वज्ञानोंकी प्रवर्त्तकरनेवाली है और सर्वशास्त्रमयी है; ऐसा कहा है, तिससे गीता सबशास्त्रोंसे श्रेष्ठ है ॥ २० ॥

योऽधीते सततं गीतां दिवा रात्रौ यथार्थतः ॥
स्वपन्गच्छन्वदंस्तिष्ठञ्छाश्वतं मोक्षमाप्नुयात् ॥ २१ ॥

जो निरंतर रातिदिन अर्थसहित गीताको सोते, चलते, बोलते, खडेभी पढते रहते हैं वे सनातन मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

शालग्रामशिलाग्रे तु देवागारे शिवालये ॥
तीर्थे नद्यां पठेद्यस्तु वैकुंठं याति निश्चितम् ॥ २२ ॥

शालग्रामके संमुख देवमंदिरमें, शिवालयमें, तीर्थमें और नदीकिनारे जो गीताको पढता रहै सो निश्चय वैकुंठको जाताहै ॥ २२ ॥

देवकीनंदनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति ॥
यथा न वेदैर्दानैश्च यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥ २३ ॥

जैसे श्रीदेवकीनंदन कृष्ण गीतापाठसे संतुष्ट होते हैं; तैसे वेदपाठ, दान, यज्ञ, तीर्थ और व्रतादिकोंसे नहीं संतुष्ट होते हैं ॥ २३ ॥

गीताऽधीता च येनापि भक्तिभावेन चेतसा ॥
तेन वेदाश्च शास्त्राणि पुराणानि च सर्वशः ॥ २४ ॥

जिनने भक्तिभावपूर्वक चित्त लगायके गीताका अध्ययन कियाउसने सर्व वेद, शास्त्र और पुराणभी पढचुका ॥ २४ ॥

योगिस्थाने सिद्धपीठे शिष्टाग्रे सत्सभासु च ॥

यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन्याति परां गतिम् ॥२५॥

योगीके स्थानमें, सिद्धेश्वरी रत्नगिरि सिद्धपीठमें, श्रेष्ठपुरुषके सम्मुख, साधुसभामें, यज्ञमें और विष्णुभक्तके संमुख पाठ करनेसे मोक्ष पावेगा ॥ २५ ॥

गीतापाठश्रवण के यः करोति दिने दिने ॥
क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ॥ २६ ॥

जो दिनदिन प्रति गीताका पाठ और श्रवण करता है तिसने सब अग्निष्टोमादिक और अश्वमेधादिक दक्षिणासहित यज्ञ करचुका ॥२६॥

यः शृणोति च गीतार्थं कीर्त्तयेच्च स्वयं पुमान् ॥
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥ २७ ॥

जो गीताका अर्थ सुनै और आप कहै दूसरोंको श्रवण करावै सो परमपदको प्राप्त होताहै ॥ २७ ॥

गीतायाः पुस्तकं नित्यं योऽर्चयत्येव सादरम् ॥
विधिना भक्तिभावेन तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ २८ ॥

जो आदरपूर्वक नित्य गीताके पुस्तकको विधिपूर्वक भक्तिभावसंयुक्त पूजेगा उसके पुण्यका फल सुनो ॥ २८ ॥

सकला चोर्वरा तेन दत्ता यज्ञे भवेत्किल ॥
व्रतानि सर्वतीर्थानि दानानि सुबहून्यपि ॥ २९ ॥

उस गीताके पूजनेवालेने यज्ञमें सर्व पृथ्वी दान देचुका; तथा सर्वव्रत, सर्वतीर्थ और बहुतसे दानभी देचुका ॥ २९ ॥

भूतप्रेतपिशाचाद्यास्तत्र नो प्रविशंति वै ॥
अभिचारोद्भवं दुःखं परेणापि कृतं च यत् ॥ ३० ॥

जिस घरमें गीताका पूजन होता है तहां भूत, प्रेत, पिशाचादिक

और दूसरेके कियेभये मंत्रयंत्रादिक अभिचारज दुःखभी नहीं प्रवेश कर सकते हैं ॥ ३० ॥

नोपसर्पन्ति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे ॥
तापत्रयोद्भवा पीडा नैव व्याधिभयं तथा ॥ ३१ ॥

जिसघरमें गीताका पूजन है तहां दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनों तापोंकी पीडा और रोगकृतपीडाभी नहीं होती है ॥ ३१ ॥

न शापौ नैव पापं च दुर्गतिर्न च किंचन ॥
देहेऽरयः षडेते वै न बाधंते कदाचन ॥ ३२ ॥

वहां कोईका शाप और पाप और दुर्गति तथा देहमें रहे जो पांच ज्ञानेंद्रिय, एक मन ऐसे छः शत्रु वेभी पीडा नहीं करते हैं ॥ ३२ ॥

भगवत्परमेशाने भक्तिरव्यभिचारिणी ॥
जायते सततं तत्र यत्र गीताभिनंदनम् ॥ ३३ ॥

जहां गीताके अर्थका निरंतर विनोद होता है तहां भगवान्‌में अतिउत्तम अखंडभक्ति उत्पन्न होती है ॥ ३३ ॥

प्रारब्धं भजमानोऽपि गीताभ्यासे सदा रतः ॥
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नैवबध्यते ॥ ३४ ॥

जो सर्वकाल गीताहीके अभ्यासमें निरत है वह प्रारब्धवशसे संसारभी भोगता है, तोभी वह मुक्त और सुखी है, तथा कर्मसेभी बँधनेका नहीं ॥ ३४ ॥

महापापादिपापानि गीताध्यायी करोति चेत् ॥
न किंचित्स्पृशते तं तु पद्मपत्रमिवांभसा ॥ ३५ ॥

जो नित्य गीताका श्रवण, पठन, मनन करता होय और वह देव-

योगसे जो भूलमें ब्रह्महत्यादिक महापापभी करे तो भी जलकरके कमलपत्रवत् लिप्त नहीं होता है ॥ ३५ ॥

स्नातो वा यदि वाऽस्नातः शुचिर्वा यदि वाऽशुचिः ॥
विभूतिं विश्वरूपञ्च संस्मरन्सर्वदा शुचिः ॥ ३६ ॥

स्नान किये होय अथवा न किये होय, पवित्र होय अथवा अपवित्र होय, विभूतियोग और विश्वरूपदर्शन अध्यायको पढताभया सदा पवित्र होता है ॥ ३६ ॥

अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादिकृतं च यत् ॥
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पृश्यस्पर्शजं तथा ॥ ३७ ॥
ज्ञाताज्ञातकृतं नित्यमिंद्रियैर्जनितं च यत् ॥
तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात् ॥ ३८ ॥

जो अनाचारसे और जो निंदितशब्द बोलनेसे, जो अभक्ष्यभक्षणसे जो न छूने योग्यके छूनेसे, पाप भये हों; तथा जो जान और अजानमें नित्य पाप भयेहों और जो इंद्रियोंसे पाप भया हो सो सर्व गीतापाठसे तत्काल नष्ट होता है ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

सर्वत्र प्रतिभोक्ता च प्रतिग्राही च सर्वशः ॥
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्येत कदाचन ॥ ३९ ॥

जो सर्वत्र भोजन करता हो सर्वप्रतिग्रह लेताहो उसके भी पापों करके गीतापाठसे लिप्त नहीं होता है ॥ ३९ ॥

रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रगृह्यापिविधानतः ॥
गीतापाठेन चैकेन शुद्धः स्फटिकवत्सदा ॥ ४० ॥

विधिहीन रत्नपूरित पृथिवीका दानभी लेके एक गीतापाठसे शुद्ध स्फटिकमणिवत् निष्पाप होताहै ॥ ४० ॥

यस्यांतःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा ॥
सर्वाग्निकः सदाजापी क्रियावान्स च पंडितः ॥ ४१ ॥

जिसका अंतःकरण सदा गीतामें रमता हो सो सर्वअग्निहोत्री, सदा जप करनेवाला, सो क्रियावान् और सोई पंडित है ॥ ४१ ॥

दर्शनीयः स धनवान्स योगी ज्ञानवानपि ॥
स एव याज्ञिको ध्यानी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥ ४२ ॥

सोई दर्शनयोग्य है, सोई धनवान्, सोई योगी, सोई ज्ञानवान्, सोई याज्ञिक, सोई ध्यानी और सोई सर्ववेदोंके अर्थका देखनेवालाहै ॥४२॥

गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यं पाठे प्रवर्त्तते ॥
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ॥ ४३ ॥

गीताका पुस्तक जहां नित्य पाठमें प्रवर्त्त हो तहां पृथिवीपरके सर्व प्रयागादितीर्थ सदा रहते हैं ॥ ४३ ॥

निवसंति सदा गेहे देहदेशे सदैव हि ॥
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ॥ ४४ ॥

और यहां घरमें और देहमें भी सर्व देव, ऋषि, योगी और पन्नगभी सदा वसते हैं ॥ ४४ ॥

गोपालबालकृष्णोपि नारदध्रुवपार्षदैः ॥
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्त्तते ॥ ४५ ॥

जहां गीता प्रवृत्त होती है तहां नारद, ध्रुव और सर्व पार्षदनसहित गोपाल-बालकृष्ण शीघ्रही सहाय होते हैं ॥ ४५ ॥

यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं तथा ॥
तत्राहं निश्चितं पार्थ निवसामि सदैव हि ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि, हे पार्थ ! जहां नित्य गीताका विचार होता है; तहां मैं निश्चय सर्वदा रहता हूं ॥ ४६ ॥

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारउत्तमः ॥
गीता मे ज्ञानमत्यग्र्यं गीता मे ज्ञानमक्षयम् ॥ ४७ ॥

हे अर्जुन ! गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम सार है, गीता मेरा अतिअग्रज्ञान और अक्षयज्ञानभी है ॥ ४७ ॥

गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं गृहम् ॥
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम् ॥ ४८ ॥

गीता मेरा उत्तमस्थान है और गीता मेरा उत्तम सार है, गीताके ज्ञानको धारण किये भये तीनों लोकोंका पालता हूं ॥ ४८ ॥

गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ॥
अर्द्धमात्राक्षरा नित्या त्वनिर्वाच्यपदात्मिका ॥ ४९ ॥

गीता मेरी उत्तम विद्या है, गीता ब्रह्मरूप है, इसमें संशय नहीं। अर्द्धमात्रा, नाशरहित, सनातन, अनिर्वाच्यपदरूप ऐसी परावाणीरूप मेरी यह गीता है ॥ ४९ ॥

गीतानामानि वक्ष्यामि गुह्यानि शृणु पांडव ॥
कीर्त्तनात्सर्वपापानि विलयं यांति तत्क्षणात् ॥ ५० ॥

हे पांडव ! गीताके जो गुप्त नाम हैं सो मैं तुमसे कहता हूं जिनके कीर्तनसे तत्काल सर्वपापक्षय होते हैं ॥ ५० ॥

अथ गीतानामानि ।

गीता गंगा च गायत्री सीता सत्या सरस्वती ॥
ब्रह्मविद्या ब्रह्मवल्ली त्रिसंध्या मुक्तगेहिनी ॥ ५१ ॥

अर्द्धमात्रा चिदानंदा भवघ्नी भयनाशिनी ॥
वेदत्रयी पराऽनंता तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥ ५२ ॥
इत्येतानि जपन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ॥
ज्ञानसिद्धिं लभेच्छीघ्रं तथांते परमं पदम् ॥ ५३ ॥

अब गीताके नाम कहते हैं—गीता १ गंगा २ गायत्री ३ सीता ४ सत्या ५ सरस्वती ६ ब्रह्मविद्या ७ ब्रह्मवल्ली ८ त्रिसंध्या ९ मुक्तगेहिनी १० अर्द्धमात्रा ११ चिदानंदा १२ भवघ्नी १३ भयनाशिनी १४ वेदत्रयी १५ परा १६ अनंता १७ तत्त्वार्थज्ञानमंजरी ॥ १८ ॥ ५१ ॥ ॥ ५२ ॥ गीताके इन अठारह नामनको नित्य मन स्थिर करके जपता रहै तो शीघ्रही ज्ञानसिद्धिको प्राप्त होके, अंतमें मोक्षको प्राप्त होताहै ॥ ५३ ॥

पाठेऽसमर्थः संपूर्णे तदर्द्धं पाठमाचरेत् ॥
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ५४ ॥

जो संपूर्ण पाठ न करसके तो आधीगीताका याने नव अध्यायनका पाठ करे, तो एक गोदानका पुण्य पावै; इसमें संशय नहीं ॥५४॥

षडंशं जपमानस्तु गंगास्नानफलं लभेत् ॥
त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥ ५५ ॥

छठे अंशको याने तीन अध्यायोंका नित्य पाठ करै तो गंगास्नानका फल पावै. तीसरे भागका याने छः अध्यायनका नित्य पाठ करनेसे सोमयागका फल पावै ॥ ५५ ॥

तथाऽध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरंतरम् ॥
इंद्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेद्ध्रुवम् ॥ ५६ ॥

दो अध्यायोंका नित्य पाठ करता रहै तो इंद्रलोकको प्राप्त होके, वहां एककल्प वास करै ॥ ५६ ॥

एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ॥
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ ५७ ॥

जो एकही अध्यायका निरंतर नेमसे भक्तिपूर्वक पाठ करतारहै तो रुद्रलोकको प्राप्त होके वहां शंकरका गण होके, बहुतकालपर्यंत याने कल्पपर्यंत रहिके मुक्त होताहै ॥ ५७ ॥

अध्यायार्द्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः ॥
स प्राप्नोति रवेर्लोकं मन्वंतरशतं समाः ॥ ५८ ॥

जो मनुष्य गीताका आधा अथवा पाव अध्यायकाभी नित्यनेमसे पाठ करता रहै, तो वह सूर्यलोकमें सौ मन्वंतरके वर्षोंपर्यंत वास करै ॥ ५८ ॥

गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पंच चतुष्टयम् ॥
त्रिकद्विकैकमर्द्धं वा श्लोकानां च पठेन्नरः ॥
चंद्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतायुतम् ॥ ५९ ॥

जो गीताके दशश्लोक अथवा सात पांच चार तीन दो एक अथवा आधे श्लोककाभी निरंतर पठन करै, तो अयुतायुतवर्ष याने दशकोटिवर्ष १०,००,००,००० चंद्रलोकमें वास करेगा ॥ ५९ ॥

गीतार्थमेककालेपि श्लोकमध्यायमेव च ॥
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहं प्रयाति परमं पदम् ॥ ६० ॥

जो एककालभी गीताके एकश्लोकका अथवा अध्यायका अर्थ स्मरताभया देहको त्यागै तो मोक्षको पावै ॥ ६० ॥

गीतार्थं वापि पाठं वा शृणुयादंतकालतः ॥
महापातकयुक्तोपि मुक्तिभागी भवेज्जनः ॥ ६१ ॥

जो अंतकालके समयमें गीताका अर्थ अथवा पाठ सुनता देह त्यागै, तो महापातकीभी मुक्त होय ॥ ६१ ॥

गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः ॥
स वैकुंठमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ ६२ ॥

जो गीताके पुस्तकयुक्त प्राणोंको त्यागे, सो विष्णुलोकको प्राप्त होके विष्णुके समीप आनंद करै ॥ ६२ ॥

गीताध्यायसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ॥
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥ ६३ ॥

जो मरणसमयमें गीतापुस्तकका एक अध्याय भी समीप होय तो मनुष्यजन्म पायके फिर गीताभ्यास करके मुक्त होय ॥ ६३ ॥

गीतोच्चारणसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ॥
यद्यत्कर्म च सर्वत्र गीतापाठं प्रकीर्त्तयेत् ॥
तत्तत्कर्म च निर्दोषं कृत्वा पूर्णमवाप्नुयात् ॥ ६४ ॥

मरनेपरभी जो गीता ऐसा उच्चारण करके मरे तो भी मुक्त होय जो जो कर्म करै उस उसमें गीतापाठ करे तो निर्दोषकर्मका संपूर्ण फल पावे ॥ ६४ ॥

पितॄनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति वै ॥
संतुष्टाः पितरस्तस्य निरयाद्यांति सद्गतिम् ॥ ६५ ॥

जो श्राद्धमें पितरनके निमित्त गीताका पाठ करे तो वे पितर संतुष्ट भयेहुये नरकसे मुक्तिको जाँय ॥ ६५ ॥

गीतापाठे तु संतुष्टाः पितरः श्राद्धतर्पिताः ॥
पितृलोकं प्रयांत्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥ ६६ ॥

गीतापाठसे प्रसन्न पितर पुत्रको आशीर्वाद देतेभये पितृलोकको जाते हैं ॥ ६६ ॥

लिखित्वा धारयेत्कंठे बाहुदंडे च मस्तके ॥
नश्यंत्युपद्रवाः सर्वे विघ्नरूपाश्च दारुणाः ॥ ६७ ॥

गीताको लिखके गलेमें, भुजापर अथवा मस्तकमें धारण करे तो उसके विघ्नरूप दारुण उपद्रव नाश होयँ ॥ ६७ ॥

गीतापुस्तकदानं च धेनुपुच्छसमन्वितम् ॥
दत्वातत्सद्विजे सम्यक्कृतार्थो जायते जनः ॥६८ ॥

गोदान देनेपर गाईकी पूंछसहित हाथमें गीताका पुस्तक लेके जिसने दान दिया वह सर्व करचुका ॥ ६८ ॥

पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः शुद्धमानसः ॥
दत्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवे ॥ ६९ ॥

सुवर्णसंयुक्त गीतापुस्तकका दान जो शुद्धमनसे विद्वान् ब्राह्मणको देय, सो फिर जन्म न पावै ॥ ६९ ॥

शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति यः ॥
सयाति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥ ७० ॥

जो गीताके सौ पुस्तकोंका दान करे, तो जिसलोकसे फिर इहां नहीं जन्मता है; उस वैकुंठको जाता है ॥ ७० ॥

गीतादानप्रभावेण सप्तकल्पावधीः समाः ॥
विष्णुलोकमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ ७१ ॥

गीतादानके प्रभावसे विष्णुलोकमें सात कल्पपर्यंत विष्णुसंयुत रहके आनंद करे ॥ ७१ ॥

सम्यक् श्रुत्वा च गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत् ॥
तस्मै प्रीतोस्मि भगवान्ददामि मनसेप्सितम् ॥ ७२ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि, जो गीताका अर्थ सुनिके पुस्तकका दान करे; उसको मनवांछित फल देता हूं ॥ ७२ ॥

देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्येषु भारत ॥ न शृणोति पठत्येव गीताममृतरूपिणीम्॥७३ ॥ हस्तात्त्यक्त्वाऽमृतं प्राप्तं कष्टात्क्ष्वेडं समश्नुते ॥ पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा मोक्षं सुखी भवेत् ॥ ॥ ७४ ॥

जो मनुष्य देह पाइके इस अमृतरूपिणी गीताको नहीं पढताहै और नहीं सुनता है सो हाथमें आयेभये अमृतको त्यागके विषको कष्टसे पीता है; इस गीतारूप अमृतका पान करके मोक्षको प्राप्त होके सुखी होता है ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

जनैः संसारदुःखार्त्तैर्गीताज्ञानं च यैःश्रुतम् ॥
संप्राप्तममृतं तैश्च गतास्ते सदनं हरेः ॥ ७५ ॥

संसारदुःखकरके पीडित जिन मनुष्योंने इस गीताके ज्ञानको सुना वे अमृत होके विष्णुलोकको प्राप्त भये ॥ ७५ ॥

गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ॥
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ॥ ७६ ॥

इस गीताका आश्रय करके, बहुतसे जनकादिक राजा पापरहित होके परमपदको गये हैं ॥ ७६ ॥

गीतासु न विशेषोस्ति जनेषूच्चावचेषु च ॥
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ॥ ७७ ॥

गीतामें नीच ऊंचका विशेष नहीं, आत्मा सबमें समान है; इससे यह ब्रह्मस्वरूपिणी है ॥ ७७ ॥

योऽभ्यसूयति गीतां च निंदां वा प्रकरोति च ॥

प्राप्नोति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥ ७८ ॥

जो गीताकी ईर्षा और निंदा करता है सो प्रलयपर्यंत नरकमें रहता है ॥ ७८ ॥

अहंकारेण मूढात्मा गीतार्थं नैव मन्यते ॥
कुंभीपाके स पच्येत यावत्कल्पक्षयो भवेत् ॥ ७९ ॥

जो अहंकारसे गीताके अर्थको नहीं मानता है, सो प्रलयकालपर्यंत कुंभीपाक नरकमें पचता है ॥ ७९ ॥

गीतार्थं वाच्यमानं यो न शृणोति समीपतः ॥
श्वसूकरभवां योनिमनेकां सोऽधिगच्छति ॥ ८० ॥

जो गीता बँचतीभईको नजदीक जाके नहीं सुनता है सो कुत्ता और सूवरके अनेक जन्म पाता है ॥ ८० ॥

चौर्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत् ॥
न तस्य स्यात्फलं किंचित्पठनं च वृथा भवेत् ॥ ८१ ॥

जो गीताके पुस्तक चोरीसे लाइके उसपर पाठ करे तो उसको पाठका फल तो नहीं मिले और वृथा परिश्रम होता है ॥ ८१ ॥

यः श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमादरात् ॥
नैवाप्नोति फलं लोके प्रमादाच्च वृथा श्रमम् ॥ ८२ ॥

जो गीताके अर्थको सुनके अतिआदरसे आनंद नहीं पाता है उसको फल नहीं मिलता है वह प्रमादसे वृथा होता है ॥ ८२ ॥

गीतां श्रुत्वा हिरण्यं च पट्टांबरसुवेष्टनम् ॥
निवेदयेच्च तद्वक्त्रे प्रीतये परमात्मनः ॥ ८३ ॥

गीताको सुनके सुवर्ण और रेशमी वस्त्र पुस्तक लपेटनेका उस पर लपेटिके परमात्माकी प्रीतिके वास्ते बाँचनेवालेको देना ॥ ८३ ॥

वाचकं पूजयेद्भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ॥
अन्नैर्बहुविधैः प्रीत्या तुष्यतां भगवानिति ॥ ८४ ॥

द्रव्य, वस्त्र, आभूषणादिकोंकरके वक्ताका पूजन करके नाना-प्रकारके अन्न देना कि, भगवान् प्रसन्न होवे, इस बुद्धिसे देना ॥ ८४ ॥

माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं सनातनम् ॥
गीतांते पठते यस्तु यथोक्तं फलमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

यह श्रीकृष्णका कहाभया सनातन गीताका माहात्म्य इसके गीतापाठके अंतमें पढे तो यथोक्त फल पावे ॥ ८५ ॥

गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ॥
वृथा पाठफलं तस्य श्रम एव हि केवलम् ॥ ८६ ॥

गीतापाठ करके माहात्म्यको न बाँचै तो उसके पाठ करनेका श्रम वृथाही है. पाठका फल नहीं पाताहै ॥ ८६ ॥

एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ॥
श्रद्धया यः शृणोत्येव दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ॥ ८७ ॥

जो इस माहात्म्यके संयुक्त गीतापाठ करेगा अथवा सुनेगा सो दुर्लभ मोक्षपदको पावेगा ॥ ८७ ॥

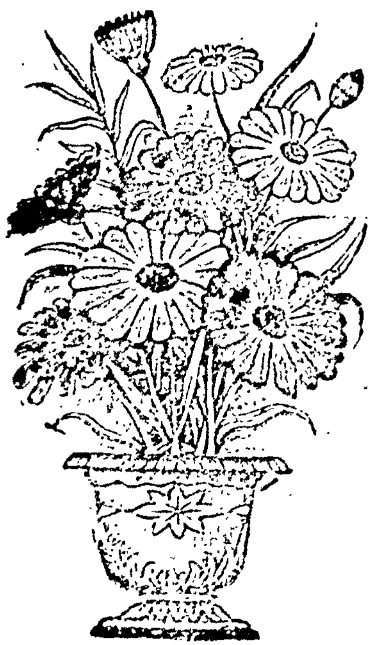
श्रुत्वा पठित्वा गीतां च माहात्म्यं यः शृणोति वै ॥
तस्य पुण्यफलं लोके भवेद्धि मनसेप्सितम् ॥ ८८ ॥

जो गीताको सुनके और पढके माहात्म्यको पढते सुनते हैं वे मनइच्छित फलको पावते हैं ॥ ८८ ॥

इति श्रीमद्वाराहपुराणे सूतशौनकसंवादे श्रीकृष्ण-प्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं संपूर्णम् ।

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचिता श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यचंद्रिकाव्याख्या समाप्तिमगात् ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥ ॥ शुभं भवतु ॥



आपका—खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस, खेतवाड़ी—बंबई.

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

सान्वय-अमृततरंगिणीभाषाटीकासमेता

श्रीर्जयति ।

प्रणम्य परमात्मानं कृष्णं रामानुजं गुरुम् ॥
गीताव्याख्यामहं कुर्वे गीतामृततरंगिणीम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ॥
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १

जब श्रीकुरुक्षेत्रमें दुर्योधनादिक धृतराष्ट्रके पुत्र और युधिष्ठिरादिक पांडुके पुत्र आपआपकी सेनाओंको लेके युद्धके वास्ते तयार भये तब यहां हस्तिनापुरमें धृतराष्ट्र संजयसे पूछने लगे कि, हे संजय ! धर्मस्थल कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छा कियेभये इकट्ठे भयेहुये मेरे पुत्र और पांडुके पुत्र ये निश्चयकरके क्या करनेको प्रारंभ करते भये सो कहो ॥ १ ॥

संजय उवाच ।

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ॥
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

ऐसे धृतराष्ट्रके वाक्य सुनिके संजय कहते भये कि, हे राजन् ! राजा दुर्योधनने तब व्यूहरचनायुक्त पांडवनकी सेनाको देखके और द्रोणाचार्यके समीप जाके वचन बोलतेभये ॥ २ ॥

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ॥
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य ! जो तुम्हारा बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदका पुत्र धृष्टद्युम्न तिसकरके यथायोग्यस्थानोंपर स्थापित पांडुपुत्रोंकी इस सर्वोत्तम सेनाको आप देखो ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ॥
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

इससेनामें जो युद्धकरनेमें भीम अर्जुनके समान बडे धनुषधारी शूर हैं वे ये कि, युयुधान और विराट और महारथी द्रुपद ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ॥
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

धृष्टकेतु चेकितान और बलवान् काशीका राजा तथा पुरुजित् और कुंतिभोज और नरोंमें श्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ॥
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

पराक्रमी और उत्तमशक्तिवाला और धीरजवान् ऐसा युधामन्यु सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु और महारथवाले सबही द्रौपदीके पुत्र जिसमें हैं इसप्रकार पांडवोंकी सेना रची है ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ॥
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

हे द्विजोत्तम ! हमारेनमें जो श्रेष्ठ और हमारी सेनाके पति हैं उनको जाननेके वास्ते तुह्मारेसे कहता हूं तिन्होंको जानो ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ॥
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

जो हमारी सेनामें मुख्य हैं उनमें एक आप हो और भीष्म और कर्ण

और संग्रामके जीतनेवाले कृपाचार्य अश्वत्थामा और विकर्ण और तैसा ही राजा सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ॥
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

और मेरेवास्ते जीवितको त्यागनेवाले और नानाशस्त्रोंके प्रहारकर-नेवाले और भी सब युद्धचतुर ऐसे बहुत शूर हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

हमारी सेना भीष्मकरके रक्षित है तिससे असमर्थ है और इनकी यह सेना भीमकरके रक्षित है इससे बलिष्ठ है. तात्पर्य यह है कि, भीष्म उभयपक्षपाती हैं ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ॥
भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवंतः सर्वएव हि ॥ ११ ॥

इससे सब नाकेनपर यथायोग्य भागबनायेभये खडे रहके तुम सबही निश्चयकरके भीष्मका ही संरक्षण करो ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ॥
सिंहनादं विनद्योच्चैःशंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

ऐसे सुनके बडेप्रतापवान् कौरवनमें वृद्ध पितामह भीष्म उस दुर्योधनको हर्ष उत्पन्नकरनेवाले ऊंचेस्वरसे सिंहनादसे गर्जनाकर शंखको बजातेभये ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ॥
सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

तबे शंख और भेरी और तासे नगारे रणसिंहे एकसंग ही बजतेभये सो शब्द मिश्रित भारी होताभयो ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ ॥
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

तबे जिसमें श्वेत घोड़े जोडे हैं ऐसे श्रेष्ठ रथपर बैठेभये कृष्ण और अर्जुन दिव्य शंखोंको बजातेभये ॥ १४ ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ॥
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

तहां श्रीकृष्णे पांचजन्यको, अर्जुन देवदत्तको, भयंकर है कर्म जिसका ऐसा वृकोदर याने तीक्ष्णाग्निउदरवाला अर्थात् भीम पौंड्रनामक महाशंखको बजातेभये ॥ ५ ॥

अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

कुंतीका पुत्र राजा युधिष्ठिरे अनंतविजयशंखको, नकुल और सहदेव सुघोष और पुष्पकशंखोंको, क्रमसे बजातेभये याने नकुल सुघोषको और सहदेव मणिपुष्पको बजातेभये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ॥
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

श्रेष्ठधनुषवाला काशीका राजा और महारथ शिखंडी और धृष्टद्युम्न और विराट और शत्रुनकरिके अजित सात्यकि यादव ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ॥
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

हे पृथ्वीनाथ! राजाद्रुपद और सर्व द्रौपदीके पुत्र और महाबाहु अभिमन्यु ये न्यारे न्यारे शंखों को बजातेभये ॥ १८ ॥

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ॥
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

सो मिश्रित ऐसा बडा शब्द आकाश और पृथिवीको शब्दायमान करनेवाला धृतराष्ट्रके पुत्रोंके हृदयोंको ही विदीर्णकरताभया॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ॥
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ॥
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हे महीपते! तब शस्त्रपात प्रवृत्तहोनेके समयमें कपिध्वज पांडव अर्जुन तुम्हारे पुत्रोंको युद्धार्थ खडे देखके तब धनुषको ऊंचाकरके श्रीकृष्णसे ये वाक्य बोलतेभये कि, हे अच्युत! दोनों सेनाओंके मध्यमें मेरे रथको स्थापितकरो ॥ २० ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ॥
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

मैं प्रथम इन युद्धइच्छावाले खडेभयेनको देखूंगा कि, इस रणखेतमें मेरे साथ कौनकरके युद्धकरना योग्य है ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ॥
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

जो ये जितने दुर्बुद्धि धृतराष्ट्रपुत्रके युद्धमें प्रियइच्छनेवाले यहां इकट्ठे भयेहैं इन युद्धकरनेवालोंको मैं देखूंगा ॥ २३ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ॥
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहतेहैं कि,हे भारत ! अर्जुनकरके ऐसे कहेभये श्रीकृष्ण दोनों सेनाओंके बीचमें श्रेष्ठरथको स्थापितकरके भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने और सर्व राजाओंके सामने इसप्रकार बोलतेभये कि,हे पार्थ! ये इकट्ठेभये जो कुरुवंशी तिनको देखो ॥२४॥२५॥

तत्राऽपश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ॥
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥
तान्समीक्ष्य स कौंतेयः सर्वान्बंधूनवस्थितान् ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २६ ॥ २७ ॥

श्रीकृष्णजीके कहनेपर अर्जुनने उस रणमें खडेहुए पितृ (पितासदृशभूरिश्रवादिक काका) पितामह (भीष्म सोमदत्तादिक) आचार्य (द्रोणाचार्यादिक) मामा (शकुनिशल्यादिक) भ्राता (दुर्योधनादिक) पुत्र (द्रौपदीमें पांचों से भये जो पांच) पौत्र (लक्ष्मणादिकोंके पुत्र) तथा सखा (अश्वत्थामा जयद्रथादिक) ससुर (द्रुपदादिक) और सुहृद् (कृतवर्मादिक) इनको देखतेभये ऐसे दोनों सेनाओंमें भी उन सर्व बंधुनको खडे देखि के सो कुंतीपुत्र अर्जुन अति कृपाकरके व्याप्त खेदित होते होते यह बोलते भये ॥ २६ ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २८ ॥ २९ ॥

अर्जुन कहते हैं कि, हे कृष्ण ! युद्धइच्छावाले खडेभये इन स्वजनोंको देखिके मेरे गात्र शिथिल होतेहैं और मुख सूखता है और मेरे शरीरमें कंप और रोमांच होते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥

गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

हाथसे गांडीवधनुष गिरपरता है और त्वचाभी जरीजातीहै और खडेहोनेको भी नहीं सकता हूं और मेरा मन भ्रमतासरीखाहै ॥३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥
न च श्रेयोऽनु पश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

और हे केशव ! निमित्तभी विपरीत देखता हूं और संग्राममें स्वजनोंको मारके फिर कल्याणभी नहीं देखताहूं ॥ ३१ ॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥
किन्नो राज्येन गोविंद किं भोगै र्जीवितेन वा ॥६२॥

हे कृष्ण ! विजय और राज्य और सुख नहीं चाहताहूं. हे गोविंद ! हमारेको राज्यकरके भोगकरके क्या प्रयोजन ? अथवा जीवनेकर भी क्या प्रयोजन है ॥ ३२ ॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥
त इमेवस्थितास्तथा युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

हमको जिनकेवास्ते भोग सुख और राज्य चाहीयेथा वे ये प्राण और धनोंको त्यागके युद्धमें खडे हैं ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥ ३४ ॥

ये सर्व मेरे आचार्य पितातुल्य काका पुत्र और तैसेही पितामह मामाँ ससुर नातीपोतां साले तथा और संबंधी हैं ॥ ३४ ॥

एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

हे मधुसूदन ! तीनोंलोकोंके राज्यके वास्ते भी मेरेको ये मारते होयँ तोभी इनको मारनेकी नहीं इच्छाकरताहूं तो पृथिवीके-वास्ते क्यों मारूंगा ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारके हमको क्या प्रसन्नता होयगी इन आततायिनको मारके हमको पापही लगेगा ॥ आततायी-लक्षण॥दोहा—अग्निदेइ विषदेइ जो, क्षेत्रदारहरजोइ ॥ धनहरसन्मुखशस्त्रकर, आततायिपट्होइ ॥ १ ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्त्तराष्ट्रान्स्वबांधवान् ॥
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

तिससे कि, इनके मारनेका पाप ही होयगा तिससे हमारे बंधू धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके वास्ते हम नहीं योग्य हैं हे माधव ! निश्चयपूर्वक स्वजनोंको मारके कैसे सुखी होयँगे ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः ॥
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम् ॥

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

हे जनार्दन ! लोभकरके जिनके चित्त भ्रष्ट भयेहैं ऐसे ये दुर्योधनादिक कुलक्षयकरनेके दोषको और मित्रद्रोहमें पापको यद्यपि नहीं देखते हैं नहीं जानतेहैं तोभी कुलक्षयकृत दोषको देखतेभये हमकरके इस पापसे निवृत्त होनेके वास्ते कैसे नं जानना चाहिये ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः ॥
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुलके क्षयहोनेसे सनातन कुलके धर्म नाश होतेहैं फिर धर्म नष्टहोनेसे सर्व कुलको अधर्म जीतलेताहै याने कुलको अप्रतिष्ठित करदेताहै ॥ ४० ॥

अधर्माऽभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः ॥
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण ! अधर्मकरके कुलको अप्रतिष्ठितहोनेसे कुलकी स्त्रीजन दुष्ट होयँगी हे वृष्णिवंशोद्भव ! उन दुष्ट स्त्रियनमें वर्णसंकर उत्पन्न होयगा ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥
पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

जिससे कि, जिनके पितर पिंडोदकक्रिया प्राप्तभयेविना संसारमें पडतेहैं और इसीसे कुलघातिनके कुलको वह वर्णसंकर नरकप्राप्तिही के हेतु उत्पन्न होताहै ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ॥
उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

जो कुलघाती हैं उनके जो ये वर्णसंकरकारक दोष तिनकरके जातिधर्म और सनातन कुलधर्म नष्ट होतेहैं ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ॥
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन! जिनके कुलधर्म नष्ट भये उन मनुष्योंको नरकमें अवश्य वास होताहै ऐसा सुनतेहैं ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ॥
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अहो कष्ट! हम बडेपापको करनेको निश्चयकिये हैं जो राज्यसुखलोभकरके स्वजनोंको मारनेका उद्योगकियेहैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ॥
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

जो हाथमें शस्त्रलियेहुये धृतराष्ट्रके पुत्र अशस्त्रको और अप्रतीकारको याने जो मैं बदला नहीं लेताहूं ऐसे मेरेको रणमें मारेंगे सो मारना भी मेरा अतिकल्याणरूप होयगा ॥ ४६ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ॥
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

राजाधृतराष्ट्रसे संजय कहतेहैं कि, संग्राममें अर्जुन ऐसे कहके बाणसंयुक्त धनुष डारिके शोकव्याकुलमनहुआ भया रथके पिछाडी जायके रथमें बैठरहताभया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां गीतामृततरंगिण्यां प्रथमाध्यायप्रवाहः ॥ १ ॥

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

राजा धृतराष्ट्रसे संजय कहते हैं कि, जो प्रथम अध्यायमें करुणावाक्य कहे वैसेही कृपाकरके व्याप्त आंसूनके भरनेसे नेत्र व्याकुल विषाद-युक्त उस अर्जुनसे मधुसूदन भगवान् ये वाक्य बोलते भये ॥ १ ॥

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ॥
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

जो बोले सो कहतेहैं कि, हे अर्जुन ! जो अनार्यनके सेवनेयोग्य नरकको लेजानेवाला और अपकीर्त्तिका करनेवाला ऐसा यह मोह तुमको ऐसे विषमस्थलमें कैसे प्राप्तभया ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ॥
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे पृथाके पुत्र ! तुम कायरताको न ग्रहणकरो तुम्हारेमें यह नहीं योग्य है हे परंतप ! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताकारके कायरताको छोडिके खडेहोजावो ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ॥
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

ऐसे कृष्णके वाक्य सुन अर्जुन बोले कि, हे मधुसूदन! मैं संग्राममें भीष्म और द्रोणाचार्यसे बाणोंकरके कैसे युद्धकरूंगा हे अरिसूदन ! ये दोनों पूजनेयोग्य हैं यहां मधुसूदन कहनेका तात्पर्य यह कि, आप दैत्यहंता हो तो सज्जनोंसे क्यों युद्धकरातेहो अरिसूदन कहनेका तात्पर्य यह कि, जो शत्रुनाशक हो तो भीष्मादिक पूज्यनपर बाणप्रहार क्यों कराते हो ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यम-
पीह लोके ॥ हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय
भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

इस लोकमें अतिउत्तमप्रभाववाले गुरुनको मारेविना भिक्षाका अन्न भी खानेको कल्याणही जानना और अर्थ याने द्रव्यकी है कामना जिनके ऐसे गुरुनको इस संग्राममें मारके रक्तसे भरेभये भोगोंको भोगोंगा ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम
यदिवा नो जयेयुः ॥ यानेव हत्वा नजिजीवि-
षामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

यह भी नहीं जानतेहैं कि, हमारेमें कौन बली है नजाने हम जीतेंगे किंवा ये हमको जीतें जिनको मारके हम जीना नहीं चाहतेहैं वे धृतराष्ट्रके पुत्र सन्मुख ही खडेहैं ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म-
संमूढचेताः ॥ यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

कार्पण्य यह कि,हम इनको मारके कैसे जियेंगे तथा जो कुलक्षयका दोष इन कार्पण्य और कुलक्षय दोषोंकरके मेरा क्षत्रियस्वभाव विध्वंसित भयाहै इसीसे धर्ममेंभी मेरा चित्त चकित भयाहै जैसे कि,क्षत्रिय धर्मयुद्ध अथवा भिक्षान्नभोजन इनमें कौन कल्याणकारक है ऐसे चित्त चकितहै ऐसा मैं तुम्हारा शिष्य तुमको पूंछताहूं जो मेरेवास्ते निश्चय कल्याणदायक होय वही कहो तुम्हारे शरणागत मेरे को सिखावो ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छो-

षणामिंद्रियाणाम् ॥ अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अरे रे रे रे ! बडा अनर्थ है कि, जो पृथिवीमें शत्रुरहित संपदायुक्त राज्यको और देवताओंके भी अधिपतित्वको पायके मेरी इंद्रियनके सुखानेवाले शोकको दूरकरे उसको मैं नहीं देखताहूं ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ॥
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहनेलगे कि, शत्रुनको संतापितकरनेवाला तथा गुडाका जो निद्रा तिसके जीतनेमें समर्थ ऐसा जो अर्जुन हृषीकेश याने इंद्रियोंके मालिक श्रीकृष्णको ऐसे कहके फिर नहीं युद्धकरूंगा ऐसे गोविंदसे कहके मौन होतेभये ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ॥
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥ १० ॥

हे भरतवंशोत्पन्न धृतराष्ट्र ! दोनों सेनाओंके मध्यमें युद्धके-उत्साहको त्यागिके शोक कररहा जो अर्जुन तिससे हँसतेसरीखे श्रीकृष्णजी यह याने जो आगे कहैंगे सो वचन बोलते भये ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ॥
गतासूनगतासूंश्च नाऽनुशोचंति पंडिताः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णभगवान्ने निश्चय किया कि, इसको धर्माधर्मका ज्ञान नहीं है, इससे यह धर्मको तो अधर्म और अधर्मको धर्म मान रहा है, परंतु धर्मको जानना चाहता है सो मोह गये विना यह कैसे जानेगा? सो मोह आत्मदर्शनविना नष्ट होनेका नहीं ज्ञानविना आत्मदर्श-

न होनेका नहीं; सो ज्ञान निष्कामकर्मविना होनेका नहीं और अध्यात्मशास्त्र जो आत्मा–अनात्मा–विवेक उपदेश याने जीव और शरीरका विवेक उसका उपदेश इसविना निष्काम कर्म होने सकतानहीं इससे अध्यात्मशास्त्र ही उपदेश करो, ऐसा विचारके उपदेश करनेलगे. अब इस श्लोकसे लेके अठारहे अध्यायमें छासठके श्लोकमें जो "माशुचः" ऐसा वाक्य है वहां पर्यंत गीता उपदेश है. तहां प्रथम भगवान् कहते हैं कि, हे अर्जुन ! "त्वं अशोच्यान् अन्वशोचः" याने जो शोचनेयोग्य नहीं तिनको शोचते हो और प्रज्ञावाद याने पंडितोंसरीखी बातें तिनको भाषते याने कहते हो वे ऐसे कि, हमारे पितरोंका श्राद्ध और तर्पण न होनेसे वे स्वर्गसे नरकमें पडेंगे सो स्वर्गप्राप्ति और पडना श्राद्धादिक होने न होनेके स्वाधीन नहीं हैं; वे तो आपके करे पुण्यपापके स्वाधीन हैं "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति" इस प्रमाणसे वे पुण्य पाप सदेह आत्माके स्वाधीन हैं. केवल देहके स्वाधीन नहीं हैं यद्यपि पुत्रादिकोंके करेभये श्राद्धादिकोंका पुण्य प्राप्त होता है; कारण कि, पुत्रादिक सदेह आत्मसंबंधी हैं; तथापि श्राद्ध न होनेसे स्वर्गसे पडना यह कोई कालमें भी होनेका नहीं; इसवास्ते गतासूं जो ये शरीर नित्य नाशधर्मी और अगतासू जो जीव नित्य अमर एकरस है इससे "नासतोविद्यते भावोनाऽभावोविद्यतेसतः" इसप्रमाणसे पंडितजन इनका शोच नहीं करते हैं; इससे तुमकोभी शोचना अयोग्य है. "स्वेस्वेकर्मण्यभिरतःसिद्धिंविंदतिमानवः" इसप्रमाणसे स्वधर्मयुद्ध ही कल्याणकारक है ॥ ११ ॥

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ॥
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि, हे अर्जुन ! जो आत्मा याने जीवात्मा

परमात्मा है उनके स्वभाव सुनो. सो ऐसे कि, "अहं सर्वेश्वर इतः पूर्वमनादौ काले जातु नासमपि त्वासमेव" मैं सर्वेश्वर इस समयसे प्रथम अनादिकालमें क्या न था ? क्योंकि, निश्चयकरके था "त्वं नासीः अपितु आसीः एव" जैसा मैं था ऐसा क्या तू न था ? तू भी था. "इमे जनाधिपाः किं न आसन् अपित्वासन् एव" ये सब राजा क्या न थे ? अर्थात् ये भी थे. "अतः परं सर्वे वयं किं न भविष्यामः अपितु भविष्याम एव" इसकालसे अगाडी क्या हम, तुम ये सर्व न होयंगे ? अर्थात् होयहींगे. इससे आत्मा नित्य है. शोच करना वृथा है. तथा जो यहां हम, तुम और ये ऐसा कहा इससे यह सिद्धांत भया कि, जीवात्मा और परमात्मा न्यारे न्यारे हैं यह न्यारापनाही सत्य है. इसीसे श्रीकृष्णजीने भी उपदेश किया क्यों कि, अज्ञानमोहित अर्जुनको मिथ्याउपदेश करनेहीके नहीं. इस न्यारेपनेमें श्रुतिभी प्रमाण है सो यह—"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामानिति" अर्थ—जो एक नित्यचेतन परमात्मा है सो बहुत नित्यचेतन जीवोंकी कामनाको परिपूर्ण करताहै; जो कोई कहे कि; यह भेद अज्ञानकृत है तो उनसे कहना कि, यह परमार्थदृष्टिके अधिष्ठाता और आत्मयाथात्म्यसे सदा अज्ञानरहित नित्यस्वरूप परमपुरुष श्रीकृष्णमें अज्ञानकृतभेददर्शनकार्य होनेका नहीं. तोभी कोई कृष्णको अज्ञ कहे तो उनकरके उपदिष्ट गीता अप्रमाण होती है. जो कोई कहे कि, श्रीकृष्णने अभेदनिश्चय कियाहै इससे वह भेद निराकृत है; सो जले वस्त्रतुल्य बंधनकारक नहीं है. तब कहना कि, मृगतृष्णानिराकृत जानिके फिर उसमें जल लेने न जायगा जो गया तो वह अज्ञ है. इसीतरह जो मिथ्या भेदका इसमें उपदेश दिया तो इस गीताकाभी प्रमाण न मानना चाहिये. दूसरा यह कि, भेदविना उपदेशभी नहीं बनेगा

तथा परमात्मामें ऐसाभी होनेका नहीं कि, प्रथम अज्ञ थे शास्त्राध्ययनसे ज्ञानी भये. जिसको शास्त्राभ्याससे ज्ञान होताहै उसको कोई समयमें अज्ञान भी होता है. सो नित्यज्ञानस्वरूप श्रीकृष्णमें यह भी नहीं होसकताहै. यहां श्रुती प्रमाण है सो ऐसे कि, 'यःसर्वज्ञः सर्ववित् ॥ परास्यशक्तिर्विविधैवश्रूयतेस्वाभाविकीज्ञानबलक्रियाच' तथा यहांभी कहेंगे 'वेदाहंसमतीतानिवर्तमानानिचार्जुन । भविष्याणिचभूतानिमांतुवेदनकश्चन' इत्यादि प्रमाणोंसे भेदही सिद्ध होता है. भेदविना उपदेश किसको करै ? तहां कोई कहतेहैं कि, अर्जुन कृष्णका प्रतिबिंब है, आपको आपही उपदेश करतेहैं. तहां कहना कि, दरपन जल इत्यादिमें आपके प्रतिबिंबको देखके जो बातें करे सो उन्मत्त याने चित्तभ्रष्ट सिरीं होताहै, उसके वाक्यभी अप्रमाण हैं, जिसको अभेदज्ञान है उसको उपदेश बननेहीका नहीं न उसके गुरू हैं न शिष्य है इससे यही सिद्ध भया कि, परमात्मासे जीव न्यारे हैं ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ॥
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

जैसे इस देहमें जीवकी कुमार अवस्था यौवन और जरा अवस्था होतेहैं तैसे देहांतरकी प्राप्ति भी होतीहै तहां धीर याने ज्ञानीपुरुष नहीं मोहतां है ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ॥
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

हे कुंतीपुत्र ! मात्रा जो इंद्रियां तिनके स्पर्श जो शब्दस्पर्शरूप रस और गंध ये शीत उष्ण याने मृदु कठोर शब्द शीतोष्ण शस्त्र प्रहारादिक और

संयोगवियोगादिक दुःखके देनेवाले अनित्य और आगमापायी याने
होते जाते रहते हैं हे भारत ! तुम भरतवंशी हो उनको सहनकरो ॥१४॥

यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ॥
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषर्षभ ! सुख और दुःख है सम जिसके ऐसे जिस ज्ञानी पुरुष-
को ये निश्चयकरके नहीं पीडा करते हैं सो मोक्षजानेको समर्थ-
होता है ॥ १५ ॥

नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

जो "गतासूनगतासूंश्चनानुशोचंतिपंडिताः" इस वाक्यकरके आ-
त्माका स्वाभाविक नित्यत्व और देहका नाशित्व समझके शोक न
करना कहा उसीको अब 'नासतः' इत्यादिकरके खुलासा दृढता-
करके कहते हैं सो ऐसे कि, असत् जो नाशवान् है उसकी थिरता नहीं
होती है और सत् जो अविनाशी है उसका नाश नहीं होता तत्त्वदर्शी-
पुरुषोंने इन दोनोंका भी सिद्धांत देखा है सोई आगे दो श्लोकोंमें
खुलासा कहेंगे ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ॥
विनाशमव्ययस्याऽस्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

जिस आत्मतत्त्वकरके यह सर्व अचेतन तत्त्व व्याप्त है उसको तो
अविनाशी जानो इस अविनाशीका विनाश करनेको कोई नहीं
समर्थ है ॥ १७ ॥

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ॥
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

जो यह जीव अविनाशी है तथा अप्रमेय है याने यह इतना ही है

ऐसा कहनेमें नहीं आता है तथा नित्य है याने सर्वदा एकसा है ऐसे जीवके ये देह हैं नाशवंत कहे हैं हे अर्जुन ! तिससे युद्धकरो ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ॥
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इस आत्माको मारनेवाला जानता है और जो इसको अन्यकरके मरा मानता है । वे दोनों नहीं जानते हैं यह न किसीको मारता है न किसीकरके मरता है ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायम्भूत्वा भविता वा न भूयः ॥ अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा कोईकालमें भी जन्मता और मरता नहीं यह अजन्माहै नित्य सर्वकालमें है पुराण याने पहिले था सो भी है नवा न भया है और फिर होनेवाला भी नहीं है शरीरके मारनेपर भी नहीं मरता है ॥ २० ॥

वेदाऽविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ॥
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम् ॥ २१ ॥

जो इस आत्माको अजन्मा अक्षय नित्य अविनाशी जानता है तो हे अर्जुन ! सो वह पुरुष कैसे किसको मरवावताहै और कैसे किसको मारता है ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥ तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

यद्यपि शरीर नष्टहोनेसे आत्माका नाश नहीं तो भी शरीरवियोगका जो दुःख होताहै ऐसा अर्जुनका आशय जानिके भगवान् कहनेलगे कि,

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागिके और नवीनोंको ग्रहणकरताहै तैसे जीव पुराने शरीरोंको त्यागिके और नवीनशरीरोंको प्राप्त होताहै २२

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ॥
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

सर्व शस्त्र भी इस आत्माको नहीं छेदि काटि सकतेहैं अग्नि इसको नहीं जलाताहै ॥ जल इसको नहीं भिजोयसकताहै और पवनभी नहीं सुखायसकताहै ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ॥
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

यह आत्मा छेदनेयोग्य नहीं यह जलानेयोग्य नहीं और भिजाने सुखानेयोग्य भी नहीं है ॥ यह नित्य सर्वप्रकारके शरीरोंमें जानेवाला स्थिरस्वभाव अचल और सनातनहै ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ॥
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

यह अतिसूक्ष्मतासे अप्रगट है यह विचारमें नहीं आताहै यह विकाररहित कहाहै ॥ तिससे इसको ऐसा जानिके शोचकरनेको नहीं योग्यहै ॥ जो कि, इसको नित्य जन्मा अथवा नित्य मरा जानोगे ॥ तोभी हे महाभुज अर्जुन ! तुम इस आत्माको शोचनेको नहीं योग्यहो ॥ २५ ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

जिससे कि, जन्मेका मृत्यु निश्चय है और मरेका जन्म निश्चय है ॥ तिससे इस निरुपाय परिणाममें तुम शोचनेको नहीं योग्यहो ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ॥
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! मनुष्यादिक भूतप्राणी जन्मके आदिमें प्रगट न थे जन्मके पीछे मरणके आदि मध्य अवस्थामें प्रगट दीखतेहैं मरेपीछे भी नहीं दीखेंगे ऐसे निश्चयसे तहां शोक कौन है ॥ २८ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्व-
दति तथैव चान्यः ॥ आश्चर्यवच्चैनमन्यः
शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

ऐसे देहात्मवादमें शोकका परिहार किया अब कहतेहैं कि, देहसे न्यारे आत्मामें द्रष्टा श्रोता वक्ता और ज्ञाता भी दुर्लभहैं॥प्रथम कहेभये लक्षणोंकरके युक्त आत्मा सर्वसे विलक्षणहै तहां कोईतपस्वी पुण्यवान् इस आत्माको आश्चर्यवत् देखताहै और तैसाही कोई आश्चर्यवत् कहता है ॥ और तैसाही और पुरुष इसको आश्चर्यतुल्य सुनताहै और कोई पुरुष इस आत्माहीको सुनिके भी नहीं जानता है ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! सर्वकी देहमें यह जीव नित्यही अवध्य है ॥ तिससे तुम सर्व भूतोंको शोचनेको नहीं योग्यहो ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ॥
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

स्वधर्मको भी देखके दयाकरनेको नहीं योग्यहो ॥ क्यों कि क्षत्रियको धर्मसंबंधी युद्धसे और कल्याण नहींहै ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ॥
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभंते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो आपसे प्राप्तभया और खुलाभया स्वर्गका द्वार ऐसे युद्धको पुण्यवान् क्षत्रियलोग पावते हैं ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ॥
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यंति तेऽव्ययाम् ॥
संभावितस्य चाऽकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

जो कदाचित् तुम इस धर्मरूप संग्रामको न करोगे ॥ तो उससे स्वधर्म और कीर्तिको भी छोडके पापको प्राप्त होवोगे ॥ और लोग तुह्मारी अखंड अकीर्तिको भी कहेंगे ॥ सो अकीर्ति संभावितपुरुषके मरणसे अधिक है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यंते त्वां महारथाः ॥
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः ॥
निंदंतस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

श्रीकृष्णजीने अर्जुनका अभिप्राय जाना कि, जो मैं बंधुनके स्नेह और दयालुतासे युद्ध न करूंगा तो मेरी अकीर्ति कैसे होयगी याने होनेकी नहीं ऐसा जानिके बोले कि, हे अर्जुन ! जिन कर्णदुर्योधनादिक महारथोंके तुम शूर शत्रु ऐसे मान्य थे उनहीके अब युद्ध न करनेसे निंदनयोग्य लघुताको प्राप्त होवोगे वोई महारथ शत्रु तुमको भयसे संग्राम न किया ऐसा मानेंगे वोई तुह्मारे शत्रु तुह्मारी सामर्थ्यको निंदतभये बहुतसे दुर्वाक्य बोलेंगे याने अर्जुन कायर है शोभाके वास्ते शस्त्र बांधताहै जैसे

स्त्री आभूषनमें सर्पसिंहादिक देखिके प्यारसे धारण करै और साक्षात् दे-
खिके प्राणलेके भागे तैसे जब ऐसी निंदा करेंगे तब उससे वडादुःख
कौन है सो कहो ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ॥
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

उसनिंदाके सुननेसे रणमें मरना मारना ही श्रेष्ठहै ऐसा कहते हैं हे कुं-
तीपुत्र! जो रणमें शत्रुप्रहारसे मरोगे भी तो स्वर्गको प्राप्तहोवोगे जो जी-
तोगे तो पृथिवीको भोगोगे तिससे युद्धके अर्थ निश्चयकियेभये उठो॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ॥
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख और दुःखको समानकरके तथा लाभ और हानि जय और परा
जय समान जानिके फिर युद्धके अर्थयुक्तहो ऐसे पापकोनहींप्राप्तहोवोगे।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ॥
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्णभगवान्ने ऐसा आत्मस्वरूप दिखाया अब आत्मस्वरूप
ज्ञानपूर्वक मोक्षसाधनभूत कर्मयोग कहतेहैं सो ऐसे कि, हे पृथापुत्र! यह
बुद्धि तुमसे मैंने सांख्य जो आत्मा देहका विवेक उसमें कही और इसीको
योगमें याने कर्मयोगमें सुनो जिसै बुद्धिकरके युक्त कर्मबंध जो संसारदुःख
उसको छोडोगे ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ॥
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

जो अब ज्ञानयुक्त कर्मयोग कहेंगे तिसका माहात्म्य कहतेहैं ॥ इस
ज्ञानयुक्त कर्मयोगमें याने निष्काम कर्मयोगमें प्रारंभका भी नाश नहीं है

याने प्रारंभ होके समाप्त न होय तो भी नाश नहीं है इसके छूटनेका दोष भी नहीं होताहै इस निष्काम कर्मका लवलेशमात्र भी जन्ममरणरूप बडेभयसे रक्षणकरताहै ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह कुरुनंदन ॥
बहुशाखाह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

हे कुरुनंदन! व्यवसाय जो विष्णुपरमात्मा तिनमें है आत्मा नाम मन जिनका ऐसे पुरुषोंकी बुद्धि इस निष्काम कर्महीमें वह एक है याने एक मोक्षसाधनहीके वास्तेहै जो अव्यवसाई याने परमात्माविना नानापदार्थ पशुपुत्रादिकोंके चाहनेवालेहैं उनकी बुद्धि बहुतहै याने अनेककामनाओंमें लगीहै और तहां भी बहुशाखा याने एककार्यके वास्ते कर्मकरके उसमेंभी अनेक फल मांगतेहैं जैसे पुत्रार्थ यज्ञमें धन,धान्य,आयुष्य, आरोग्यका मांगना ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः ॥ वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ॥ क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ॥ व्यवसायात्मिकाबुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४२॥ ४३ ॥ ॥ ४४ ॥

हे पृथापुत्र! जो अज्ञानी जन वेदवादरत याने वेदोक्त कर्मसे स्वर्गादिकफलही होताहै ऐसे कहनेवाले स्वर्गसुखसे और सुख नहीं है ऐसा कहनेवाले कामनाहीमें चित्तरखनेवाले स्वर्गहीको श्रेष्ठमाननेवाले जिसे पुष्पित याने कहनेमात्रमें रमणीय जन्मकर्मरूपफलकी देनेवाली तथा जिसमें भोग और ऐश्वर्यनिमित्त बहुत उपकरण याने कर्मसाधन हैं जिसमें ऐसी इस वाणीको कहतेहैं इसीसे उसी वाणीकरके अपहरणभयेहैं

चित्त जिनके इसीसे भोग और ऐश्वर्यमें आसक्तहैं उनके मनमें वह परमात्मविषयकबुद्धि नहीं प्रवृत्तहोतीहै ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ॥
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन! वेद ये त्रैगुण्यविषयहैं याने तीनों गुणोंके कर्मनहींको कहते हैं तुम निर्द्वंद्व याने सुखदुःख,जयपराजय,लाभअलाभ, इन द्वंद्वनसे रहितहो अर्थात् इनसे उत्पन्न हर्षशोकरहितहो नित्यसत्वस्थहो याने सात्विककर्म करो निर्योगक्षेम याने कोइसा भी लाभ और लब्धका रक्षण ईश्वराधीन न जानो आत्मवान् याने परमात्मामें चित्त राखो ऐसेभये हुये निस्त्रैगुण्यहो याने कर्मफलोंका त्यागकरो ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ॥
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

जो कहा कि, वेदोक्त कर्मोंमेंसे तुम सात्त्विक करो उसीको खुलासा कहतेहैं जैसे सर्वत्र जलसे भरेभये तालाव इत्यादिक जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन होताहै उतनाही लेताहै तैसेही वेदके जाननेवालेको सर्ववेदोंमें तावान्याने सात्त्विककर्म ही योग्यहै ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७॥

तुह्मारेको कर्महीमें अधिकारहै फलोंमें नहीं कर्मोंके फलका कारण तुह्मारेमें कोई समयमें भी मति हो तुम्हारे को अकर्म याने स्वधर्म योग्य युद्धादिकर्मोंका न करना इसमें संग जो निष्ठा सो कदाचित् न हो ४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ॥
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ४८॥

हे अर्जुन ! सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धि होके कर्मफलके संगको त्यागिके योगमें स्थितभयेहुये कर्मोंको करो । सिद्धि और असिद्धिमें जो समत्व है वही योग कहा है अर्थात् चित्तके समाधानत्वको योग कहते हैं तात्पर्य चित्तको समाधानकरके युद्धरूप स्ववर्णोचित कर्म करो ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ॥
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन ! जो बुद्धियोगसे और कर्म है सो निश्चयकरके अत्यंत नीच है इसवास्ते बुद्धियोग जो निष्काम कर्म उसीमें ईश्वरप्राप्तिकी इच्छा करो फलकी इच्छा करनेवाले कृपण हैं ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ॥
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

बुद्धियुक्त जो निष्कामकर्मी सो इसीलोकमें सुकृत जो पुण्यकर्म और दुष्कृत जो पापकर्म उन दोनोंको त्यागताहै इससे योगके अर्थ याने बुद्धियोग जो निष्काम कर्म उसकेवास्ते युक्तहो यह योग सर्वकर्मोंके कुशल कारकहै ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ॥
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छंत्यनामयम् ॥ ५१ ॥

जो बुद्धियोगयुक्तहैं वे ज्ञानी कर्मजन्य फलको त्यागके जन्मबंधनसे मुक्तभयेहुये निश्चयकरके मोक्ष पदको जातेहैं ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ॥
तदा गंतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

जब तुह्मारी बुद्धि मोहरूप दुःखको उल्लंघनकरैगी तब जो फलादिक सुननेयोग्य और जो सुनेहो उनके वैराग्यको प्राप्तहोवोगे ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ॥
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

जब तुह्मारी बुद्धि श्रुतिमें याने मेरे उपदेशमें विशेषकरके आसक्त निश्चल मनमें अचल ठहरैगी तब योगको पावोगे ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ॥
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

ऐसा सुनिके अर्जुन बूझते भये कि, हे केशव! याने सबके अंतःकरणमें रहनेवाले हे ईश्वर ! स्थिरबुद्धि समाधिस्थकी कौनसी भाषा याने उसका वाचक कौनहै अर्थात् वह स्थिरबुद्धि किससे कहाताहै स्थिरबुद्धि कैसे बोलताहै कैसे बैठताहै और कैसे चलता है ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ॥
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

अब श्रीकृष्णभगवान् स्थिरबुद्धिवालेका स्वरूप कहतेहैं तहाँ ऐसा न्यायहै कि, रहनिरीतिसे भी स्वरूपनिश्चय होताहै इससे रहनिरीति कहतेहैं सो ऐसे कि, हे अर्जुन ! जब आपके मनकरके आप स्वरूपहीमें संतुष्टभया हुआ मनमें रहेभये सब मनोरथोंको सर्वथा त्यागताहै तब वह स्थिरबुद्धि कहाताहै ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ॥
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंमें जिसका मन व्याकुल नहीं होताहै सुखोंमें निराश होताहै और जिसके पुत्रादिस्नेह भय और क्रोध न होय सो मुनि स्थिरबुद्धि कहाता है ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्राऽनभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाऽशुभम् ॥
नाऽभिनंदति न द्वेष्टि स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५७ ॥

जो सर्वत्र स्नेहरहित उसउस शुभाशुभको पाइकेभी न शुभसे आनंदहो न अशुभसे दुःखीहो तब सो स्थिरबुद्धि कहाताहै ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः ॥
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

जब यह कछुवा जैसे अपने सर्व अंगोंको समेटिलेताहै तैसे इंद्रियोंके विषयनसे आपकी सर्व इंद्रियोंको खेंचिलेताहै तब उसकी बुद्धि स्थिर होतीहै ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः ॥
रसवर्ज्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥ ५९ ॥

इंद्रियनके आहार इंद्रियविषय उनको जो नहीं सेवताहै उस देहीके विषयानुरागविना विषय निवर्त्त होतेहैं उसका वह विषयानुराग भी आत्मस्वरूपको देखके निश्चय निवर्त्त होताहै ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः ॥
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ॥
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

हे कुंतीपुत्र ! आत्मदर्शनविना विषयानुराग निवर्त्त होता नहीं और उसकी निवृत्तिविना जो ज्ञानी पुरुष बुद्धिकी स्थिरताकेवास्ते यत्नकरताहै तोभी जिससे ये जोरावरीसे मनको हरनेवाली इंद्रियां जबरईसे मनको हरती हैं ॥ इससे योगयुक्तभयाहुआ उन सर्वइंद्रियोंको नियमितकरके मेरेआश्रय रहै जिसके इंद्रियां वश हैं तिसकी निश्चयकरके बुद्धि स्थिर है ॥ ६० ॥ ६१ ॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ॥
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ॥
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

बाह्यइंद्रियनकी प्रबलता और उनको वश नकरनेमें जो दोष सो कहा अब मनसंबंधी कहते हैं जो पुरुष मन वशकिये विना जितेन्द्रियता चाहताहै सो होनेकी नहीं जैसे कि, जिसके मनमें विषयोंका चिंतवन है उस पुरुषको उनविषयोंमें संयम करतेकरतेभी आसक्ति होगी उस आसक्तिसे अभिलाषा होगी अभिलाषासे क्रोध होगा क्रोध से मतिभ्रम होता है मतिभ्रमसे स्मरणशक्तिमें विभ्रम होताहै स्मृतिविभ्रमसे ज्ञानका नाश ज्ञानके नाशसे स्वरूपसे नष्ट होताहै याने संसारमें भ्रमताहै॥६२॥६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् ॥
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥
प्रसन्नचेतसोह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

वश्यहै मन जिसका ऐसा पुरुष रागद्वेषकरके रहित और आपके वश्य ऐसी इंद्रियों करके विषयोंका सेवनकरता भया प्रसन्नताको प्राप्त होताहै याने निर्मलांतःकरण होताहै तब निर्मलचित्तहोनेसे इसके सर्वदुःखोंका नाश होता है उस प्रसन्नचित्तवालेकी बुद्धि शीघ्रही स्थिर होतीहै ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ॥
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

अयुक्त जो समतारहित है उसकी बुद्धि नहीं स्थिर होतीहै और उस अयुक्तके भावना याने आस्तिकता सो भी नहीं होतीहै और जिसके भावना नहीं उसके शांति नहीं जिसके शांति नहीं उसको कहाँ से सुख होगा ॥ ६६ ॥

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ॥
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥ ६७ ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ॥
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

जिससे कि, जो मन विषय में प्रवृत्त इंद्रियोंको अनुसरताहै सो इस पुरुषकी बुद्धिको वायु जलमें नावको ऐसे हरता है तिसीसे हेमहाबाहो ! जिसकी सर्व इंद्रियां इंद्रियोंके विषयोंसे सर्वथा रोकीभईहैं तिसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ॥
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

सर्वभूतप्राणीमात्रोंकी जो रात्री अर्थात् जिसविषयमें सर्वसोइसे रहे हैं ऐसी परमात्मविषया बुद्धि तिसमें इंद्रियसंयमी जागताहै याने आत्मस्वरूपको देखताहै जिस शब्दादिविषयरूप रात्रिमें सर्वभूतप्राणी जागतेहैं सो ज्ञानीजनकी रात्रिरूप है ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत् ॥
तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

जैसे आपही परिपूर्ण सर्वदा एकसे भरेभये समुद्रमें जल बाहरसे भरताहै तैसे जिसकी सर्व कामना प्राप्तहोयहैं सो शांतिको प्राप्त होता है जो कामनाओंकी इच्छाकरनेवाला है सो नहीं शांतिको पावताहै ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ॥
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष सर्व अभिलाषनको छोड़के इच्छारहित विचरताहै सो ममतारहित और अहंकाररहितभयाहुआ शांतिको प्राप्तहोताहै॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ॥
स्थित्वाऽस्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायांयोग
शास्त्रेश्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

हे पृथापुत्रअर्जुन! यह जो निष्कामकर्मरूप मैंने कही सो ब्रह्मप्राप्तिकारक स्थिति है इसको पाके नहीं मोहको पावताहै इसमें अंतकालमें भी स्थितहोके ब्रह्मसदृशमुक्ति पावै अर्थात् जो सर्वकाल ऐसाही रहै उसकी मुक्तिको संदेह क्या है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमत्सुकलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां
गीतामृततरंगिण्यांद्वितीयाऽध्यायप्रवाहः ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ॥
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

ऐसे श्रीकृष्णके वाक्य सुनके अर्जुनने विचार किया कि, भगवान्ने प्रथम मेरेको 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' इत्यादिवाक्योंकरके ज्ञानयोग उपदेश किया. फिर 'बुद्धियोगेत्त्विमांशृणु' इत्यादिकरके कर्मयोग उपदेश किया उसमें भी 'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला' इत्यादिकरके निष्कामकर्मसे आत्मज्ञानहीकी प्राप्ति कही इस

से निश्चय होताहै कि, कर्मयोगसे जो पीछे आत्मज्ञान कहा सोई श्रेष्ठहै ऐसे विचारके अर्जुन भगवानसे कहने लगे कि, हेजनार्दन ! जोकि कर्मयोगसे ज्ञानयोगही तुमने श्रेष्ठ मानाहोय तो हे केशव ! घोर कर्ममें मेरेको क्यों युक्तकरतेहो ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ॥
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २॥

ऐसे मिश्रित वाक्यकरके मेरी बुद्धिको मोहतेसे हो जिसकरके मैं कल्याणको प्राप्तहोउं सो एक निश्चयकरके कहो ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ॥
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

ऐसे अर्जुनके वाक्य सुनके श्रीकृष्णभगवान् बोलते भये हेनिष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें पूर्वकालमें मैंने दोप्रकारकी निष्ठा कहीहै सो सां-ख्यवालोंको ज्ञानयोगकरके और योगिनको कर्मयोगकरके ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ॥
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

शास्त्रोक्तकर्मोंके किये विना पुरुष निष्कर्मता जो सर्वेंद्रियवि-षयनिवृत्तिपूर्वकज्ञाननिष्ठा उसको नहीं प्राप्तहोताहै और कर्मके न करनेसेभी सिद्धिको नहीं प्राप्तहोता है ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ॥
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कोईकालमें क्षणभरभी कर्मकियेविना कोईभीपुरुष निश्चये-

करके नहीं रहता है क्योंकि सर्व सत्वादिप्रकृतिके गुणोंकरके पर-
वश कर्म करनेही परता है ॥ ५ ॥

कर्मेंद्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ॥
इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो ज्ञानयोगमें प्रवर्त्तहोनेको कर्मेंद्रियोंको हठसे संयममें रखके
इंद्रियविषयोंको मनकरके सुमिरतासुमिरता रहता है सो मूढ-
मति मिथ्याचार याने वृथायोगी कहाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विंद्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ॥
कर्मेंद्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

और जो इंद्रियोंको मनसे नियममें रखके विषयोंमें आसक्त
न भयाहुवा कर्मेंद्रियोंकरके कर्मयोगको करता है हे अर्जुन !
सो श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ॥
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

तिससे तुम स्ववर्णउचित कर्म करो क्योंकि कर्म न करनेसे कर्म
करना श्रेष्ठ है और कर्म विना तुम्हारा ज्ञानयोग करनेको शरीर निर्वा-
हभी न सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ॥
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

जो कर्मसे बंधन कहाहै सो ऐसा कि, जो यज्ञार्थकर्म है उससे अ-
न्यत्र कर्म करनेसे यह मनुष्य कर्मबंधनको प्राप्त होता है हेकुंतीपुत्र !
तुम फलासंग छोडभये उस यज्ञहीके अर्थ कर्म करो ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

प्रजापति जो परमात्मा सो पुरा याने सृष्टिकालमें यज्ञसहित प्रजाको उत्पन्नकरके बोले कि, इस यज्ञकरके तुम वृद्धिको प्राप्तहोउ यह यज्ञ तुम्हारे इच्छित कामनाओंका पूरनेवाला होउ ॥ १० ॥

देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयंतु वः ॥
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इस यज्ञकरके तुम देवताओंको पूजिके उनको बढावो वे तुम्हारे पूजे बढायेभये देव तुम्हारा मनोरथ पूरतेभये तुमको बढावेंगे ऐसे परस्पर बढातेभये तुम और देवता दोनों श्रेष्ठ कल्याणको प्राप्तहोवोगे ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यंते यज्ञभाविताः ॥
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

जो यज्ञ करोगे उसकरके वर्द्धितकियेभये देव तुमको इच्छित भोग निश्चयकरके देंगे उनकरके दियेभये भोगोंको उनको दियेविना जो भोगेगा सो निश्चयकरके चोर है इससे चोरतुल्य दंड पावेगा ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यंते सर्वकिल्बिषैः ॥
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

देवादिपूजनरूप यज्ञका शेष याने उबरेभये अन्नादिकके भोगनेवाले सत्पुरुष सर्वपापोंकरके मुक्तहोते हैं और जो आपहीकेवास्ते अन्नको पचातेहैं वे पापी पाप जैसाहोय तैसा ही खातेहैं ॥ १२ ॥

अन्नाद्भवंति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ॥
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितंचक्रं नानुवर्तयतीह यः ॥
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

अब दिखातेहैं कि,लोकदृष्टि और शास्त्रदृष्टिसे भी सबका मूल यज्ञ ही है सो ऐसे कि,सर्व भूतप्राणि अन्नसे होतेहैं अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे है सो लोकप्रसिद्ध देखनेमें आताहै वर्षा यज्ञसे होतीहै यह शास्त्रप्रसिद्ध है सो यह श्लोक ॥ "अग्नौप्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति॥आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततःप्रजाः ॥१॥" यज्ञकी उत्पत्ति यज्ञकर्त्ताके किये भये कर्मसे होतीहै सो कर्म ब्रह्मसे होताहै ऐसे जानो ब्रह्म नाम प्रकृति इहां प्रकृतिहीका रूप शरीर ब्रह्म जानना तहां प्रथम श्रुतिः"तदेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते"तथा इहां भी कहेंगे"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्"इत्यादिप्रमाणों से यहां यही अर्थ है कि, प्रकृतिको ब्रह्म कहते हैं उसीका परिणाम यह शरीर इससे कर्म होताहै यह शरीर अक्षरसमुद्भव याने अक्षर जो जीव तिसकरके सहित उत्पन्न होताहै याने सजीव शरीर कर्मका कारक है जिससे कि, शरीरही कर्मकारक है इसीसे सर्वगत याने सर्वाधिकारयोग्य शरीर यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित है याने यज्ञका मूलकारण है ऐसे यह ईश्वरकरके प्रवर्तमान इस चक्रको जो कर्माधिकारी किंवा ज्ञानकर्माधिकारी नहीं अनुवर्त्तताहै याने यज्ञविना शरीर पोषताहै हेअर्जुन!सो इंद्रियाराम पापआयुष्य वृथा जीवताहै जो चक्र कहा उसका खुलासा यह कि,अन्नसे शरीर, अन्न वर्षासे, वर्षा यज्ञसे, यज्ञ कर्मसे, कर्म शरीरसे, शरीर अन्नसे, ऐसे प्रवर्त्तै है ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ॥
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ॥
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

कर्म न करनेसे किसको दोष नहीं सो कहते हैं सो ऐसा कि, जो मनुष्य आत्मरति हो याने आत्मस्वरूपहीमें आनंदहोय और आत्मस्वरूपहीसे तृप्त हो अन्नादिकसे प्रयोजन नहीं और आत्माही में संतुष्टहो उसके कर्त्तव्यता नहीं है उसके कर्मकरनेसे न करनेसे भी यहां कुछ प्रयोजन नहीं है और इसके सर्वभूतप्राणिनमें कोई ऐसा भी नहीं जिससे कुछ प्रयोजन होय तात्पर्य ऐसा मनुष्य कर्म करै अथवा न करै तो चिंता नहीं ॥ १७ ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ॥
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

जिससे कि, ऐसेको दोष नहीं तुम तो द्रव्यकुटुंबादिसे रतहो इससे कर्ममें असक्त न भयेहुये करनेयोग्य स्ववर्णोचित कर्मको निरंतर करो क्योंकि फलेच्छारहित कर्म करते करते पुरुष परमात्माको प्राप्त होताहै ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अब यह दिखातेहैं कि, ज्ञानीको भी कर्महो श्रेष्ठहै सो ऐसे जिससे कि, जनकादिक ज्ञानी भी कर्मकरकेही मोक्षको प्राप्तभये वैसे तुमभी लोकसंग्रहको भी देखते भये कर्म करनेको योग्य हैं ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ॥
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

यहां कारण यह है कि, श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरणकरतेहैं दूसरे लोग भी वैसाही आचरणकरते हैं सो श्रेष्ठपुरुष जो प्रमाण करताहै सर्वलोगभी वही प्रमाणकरने लगतेहैं ॥ २१ ॥

न मे पार्थाऽस्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ॥

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! तीनों लोकोंमें मेरेको कुछ कर्त्तव्य नहीं है तथा नहीं प्राप्त ऐसाभी नहीं और प्राप्तहोय ऐसा भी नहीं अर्थात् सर्व मेरा ही है तथापि कर्ममें निश्चयैकरके वर्त्तमान रहताहूं याने लोगोंको सिखानेको कर्म करता रहताहौं ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ॥
मम वर्त्मानुवर्त्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! जो कदाचित् सावधानभयाहुआ मैं कर्म में न वर्त्तमान रहौं तो निश्चयकरिकै सर्व मनुष्य मेरी ही रीतिपर चलनेलगैं याने वेभी निरर्थ मानके कर्म न करैं ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ॥
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

जो कदाचित् मैं कर्म न करौं तो ये लोक भी ऐसे जानेंगे कि, जो कर्म श्रेष्ठ होता तो श्रीकृष्ण करते इससे कर्म तुच्छ है ऐसा जानके कर्म छोडके नष्ट होंगे तब मैं वर्णसंकरका कर्त्ता होउंगा और इस प्रजाको मारनेवाला होउंगा ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत ॥
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

हे अर्जुन ! जैसे अविद्वान् लोग कर्म में आसक्तभयेहुये कर्म करतेहैं तैसे विद्वान् आसक्तनभयाहुआ लोकसंग्रहको करनेकी इच्छा कियेभये कर्म करे ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ॥
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

जो ज्ञानी है सो ज्ञानयोगयुक्तभयाहुआ कर्मकरताकरता जो कर्म-

संगी अज्ञानीहैं उनको सर्वकर्मोंकी प्रीति उपँजावै याने उनसे प्रशंसा करके कर्म करावै और बुद्धिभेद याने कर्ममें अश्रद्धा न करावै ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ॥
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ॥
गुणा गुणेषु वर्त्तंत इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! सर्व कर्म प्रकृतिके सत्वादिगुणोंकरके कियेभयेहैं जो अहंकारसे मूढचित्त है सो मैं कर्त्ताहूं ऐसे मानताहै और जो सत्वादिक गुण और उनके कर्मके तत्त्वका ज्ञाताहै सो जानताहै कि, सत्वादि गुण आपआपके कार्योंमें वर्त्तमान हैं ऐसा जानके आसक्त नहीं होताहै ॥ २७ ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जंते गुणकर्मसु ॥ तानकृ-
त्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

प्रकृतिके सत्वादिकगुणकार्योंकरके भूलेभये जो पुरुष वे सत्वादिगुणकर्मफलोंमें आसक्त होतेहैं उनै अल्पज्ञमंदोंको सर्वज्ञपुरुष कर्ममार्गसे चलायमान न करै ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याऽध्यात्मचेतसा ॥
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

हे अर्जुन! अध्यात्म जो स्वभाव "स्वभावोऽध्यात्म उच्यते" इस प्रमाणसे क्षत्रियका जो शूरत्वादिक स्वभाव है उसमें चित्तको लगायेभये उसकरके सर्व कर्म मेरेमें अर्पणकरके निराशी याने फलाशारहित निर्मम याने कर्त्तापनका ममत्व छोड़के कर्मबंधनभयरूपज्वरसे छूटेभये युद्ध करो ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठंति मानवाः ॥

श्रद्धावंतोऽनसूयंतो मुच्यंते तेपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥
ये त्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठंति मे मतम् ॥
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

जो मनुष्य इस मेरे मतको नित्य धारण करतेहैं और जो इसमें श्रद्धा
ही रखतेहैं और जो इसकी निंदारहितहैं वे भी कर्मबंधनोंसे छुटेंगे और
जो इस मेरे मतकी निंदाकरते भये इसको ग्रहणनहीं करतेहैं वे सर्व-
ज्ञानविपर्ययमें मूढ उन अज्ञानिनको नष्टभये जानो ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

जो ज्ञानवान् है सो भी आपके जातिस्वभावके सदृश चेष्टाकरताहै
अज्ञकरे तो शंकाही क्या है!सर्वभूतप्राणी आपके जातिस्वभावको अनु-
सरतेहैं यहां निग्रह क्या करेगा ॥ ३३ ॥

इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ॥
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

जब कर्म स्वभावहीसे है और उसका निग्रह नहीं तब उपाय क्या
सो कहतेहैं कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय इनके निमित्त राग द्वेष युक्त हैं ति-
नके वश न होना क्यौं कि, वे इसके शत्रु हैं याने जीवके बंधनकारक
रागद्वेषही हैं ॥ ३४ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ॥
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

जो रागद्वेषके वश होनेसे स्वधर्मका त्याग और परधर्ममें
निष्ठा होतीहै उसका निवारण करतेभये श्रीकृष्ण कहतेहैं सो
ऐसे कि, नेत्रादिइंद्रियोंकी प्रीतिसे अर्जुन स्वधर्मोको त्यागने
लगे कि, इन स्वजनोंको देखके मेरे दया आतीहै इससे युद्ध न
करोंगा भीख मागि खाउंगा सो निवारते हैं जैसे कि, श्रेष्ठक-

मारंभ अन्यके धर्मसे स्वधर्म न्यूनभी कल्याणकारक है स्वधर्ममें मरना कल्याणदायक है परधर्ममें मरनेसे भी अतिभयंकारक है ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ॥
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अर्जुन भगवान्‌से पूंछतेहैं कि, हे वृष्णिवंशोत्पन्न कृष्ण ! आपने कहा स्वधर्मही श्रेष्ठ है अन्यधर्म भयदायक है ऐसा जो जानताभी है और स्वधर्मपूर्वक ज्ञानयोगमें प्रवर्तहोके विषय भी त्यागेहैं तौभी फिर यह पुरुष विषयइच्छा नकरता भी बलात्कार विषयोंमें युक्तकिया सरीखा किसंका प्रेराभया पापोंको करता है ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

अर्जुनका प्रश्न सुनके श्रीकृष्णभगवान् कहतेहैं कि,जो यह रजोगुणसे प्रगट काम याने कामना सो बड़ा पापी अतिविषयसेवनरूप बडे आहारका करनेवाला यही क्रोधरूप होताहै इसको इस ज्ञानविषयमें वैरी जानों ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ॥
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

जैसे अग्नि धुवांकरके ढकताहै और मलकरके दर्पण ढकताहै जैसे गर्भ जराकरके आवृत तैसे यह ज्ञान उसकामनाकरके ढका है ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ॥

कामरूपेण कौंतेय दुःपूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

हेकुंतीपुत्र! इस ज्ञानीका नित्यवैरी दुःखसे भी नभरसके इससे अपरिपूर्ण और इच्छाचारी ऐसे इस कामकरके ज्ञान ढकरहाहै काम याने विषयवासना ॥ ३९ ॥

इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याऽधिष्ठानमुच्यते ॥
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

जब शत्रुको जीतना होय तब प्रथम उसके स्थान स्वाधीन करना इससे इस कामनाके स्थान कहतेहैं सो वे ये कि, सर्व इंद्रियें मन और बुद्धि ये कामनाके स्थान कहतेहैं यह इनहींकरके ज्ञानको आच्छादितकरके जीवको मोहितकरता है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ॥
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

हेभरतवंशिनमें श्रेष्ठ! तिससे तुम प्रथम इंद्रियोंको संयममें करके स्वरूपज्ञान और विज्ञान जो भक्ति इनके नाशनेवाले इस काम पापीको निश्चय मारो ॥ ४१ ॥

इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

जो ज्ञानके विरोधीहैं उनमें विद्वान् लोग इंद्रियोंको प्रबल कहते हैं इंद्रियोंसे मन प्रबलहै और मनसे बुद्धि प्रबलहै और जो बुद्धिसे प्रबलहै सो वह कामनाहै ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायांयोगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगोनाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

हे महाभुज अर्जुन ! ऐसे बुद्धिसे प्रबल स्वेच्छाचारी दुःसह कामनारूप शत्रुको जानके फिर मनको बुद्धिकरके रोकके इस शत्रुको मारो ॥ ४३ ॥

इतिश्रीमत्सुकलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायांश्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यांतृतीयाध्यायप्रवाहः ॥ ३ ॥

प्रकृतिसंसर्गी मुमुक्षू सहसा ज्ञानयोगाधिकारी नहीं होसकता है इससे तीसरे अध्यायमें उसको कर्म करनाही उपदेशा तथा ज्ञानयोगीकोभी कर्तृत्वत्यागपूर्वक कर्म करनाही उत्तम कहा और जनसंग्रहके वास्ते भी कर्म करनाही श्रेष्ठ कहा. अब जो जगत् उद्धारके वास्ते मन्वंतरके आदिमें इसी कर्मयोगका उपदेश किया था उसीको इस चौथे अध्यायमें दृढ करते हैं. ज्ञानयोग भी इसीके अंतर्गत है; इससे इसकी ज्ञानयोगाकारता दिखायके कर्मयोगका स्वरूप और भेद तथा उसमें ज्ञानांशकी प्रधानता तथा इसीप्रसंगसे भगवदवतारनिश्चय भी कहते हैं ॥

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ॥
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीकृष्णभगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि, जो यह योग मैंने तुमसे कहा सो केवल अब युद्धोत्साह बढानेको तुम्हारेहीसे नहीं कहा इसको कल्पकी आदिमें भी कहा है सो सुन मैं प्रथम इस अव्यय कर्मयोगको सूर्यसे कहताभया सूर्य वैवस्वत मनुसे कहतेभये मनु इक्ष्वाकुसे कहतेभये ॥ १ ॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

ऐसेही परंपरासे प्राप्त इसको राजऋषि जानतेभये हे परंतप ! सो यह योग इससमयमें बहुत कालकरके नष्टभया था ॥ २ ॥

स एवाऽयं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥
भक्तोसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

सोई यह पुरातन योग मैंने तुम्हारेसे आज कहा क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा हो यह उत्तम रहस्य है ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ॥
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

ऐसे सुनिके अर्जुन कहने लगेकि, तुम्हारा जन्म अभी भया विवस्वानका जन्म प्रथमभया तुम आदिमें उनको कहतेभये ऐसे इसको हम कैसे जानें ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ॥
तान्यहं वेद्मि सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

अर्जुनके प्रश्नका श्रीकृष्ण भगवान् उत्तर देतेहैं इसीमें आपके अवतारका भी प्रयोजन कहेंगे सो ऐसे कि, हे परंतप ! याने शत्रुनको संतापित करनेवाले अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत जन्म व्यतीतभयेहैं उनं सबको मैं जानताहौ तुम नहीं जानतेहो ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ॥
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

यहां कारण यह है कि, मैं अविनाशी सर्वांतर्यामी हूं सर्वभूतोंका भी ईश्वर भयाहुवा तथा अजन्मा भयाँहुवा भी मेरा स्वभाव जो सौशील्य वात्सल्य शरणागतरक्षकत्व इत्यादिक तिसको आश्रितकरके याने उस स्वभावहीसे आपके ज्ञानसहित अवतारलेताहूं जीवको ज्ञान नहीं रहताहै मेरा ज्ञान अखंडहै मैं केवल स्वभक्त स्वसेतुरक्षणार्थ अवतार लेताहूं इसका कारण अगाड़ीके श्लोकोंमें है ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ॥
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे भारत ! जब जब निश्चयपूर्वक धर्मकी हानि अधर्मकी वृद्धि होती है तब मैं रूपको धारणकरताहूं ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

जो स्वस्वभावसे अवतार कहा वह स्पष्ट करतेहैं धर्महानि अधर्मवृद्धि देखके मैं साधुनके संरक्षणके वास्ते और दुष्टनके विनाशके वास्ते युग युगमें धर्मस्थापनके वास्ते अवतार लेताहूं ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ॥
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य याने प्राकृत नहीं हैं ऐसे जो निश्चयकरके जानता है सो देहको त्यागिके फिरिके जन्म नहीं लेता है अर्थात् मेरेको प्राप्तहोताहै ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ॥
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

व्यतीत भये हैं सांसारिक अनुराग भय और क्रोध जिनके तथा सर्वत्र मेरेहीको जानतेहैं और जो मेरे ही आश्रितहैं ऐसे बहुत मेरे स्वरूपज्ञानरूप तपकरके पवित्रभयेहुये मेरी सदृशताको प्राप्तभये हैं॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥
मम वर्त्मानुवर्त्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! सर्व मनुष्य ममवर्त्म याने जो जो सकामनिष्काम वेदमें मार्ग कहेहैं वे मेरेही कहे मार्ग हैं. उन्हीं मार्गोंके आश्रित कर्म करतेहैं तहां जो मेरेको जैसे भजतेहैं मैं उनको वैसे ही भजता हूं; याने जो सकाम इंद्रादिरूप मेरेको भजतेहैं उनको 'तदेवाग्निस्तत्सूर्य अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता' इत्यादि प्रमाणसे इंद्रादिलोक पुत्रादिकामना देता हूं और जो निष्काम मेरेको सर्वेश्वर जानके सर्वकर्म 'कायेन वाचा मनसेंद्रियैर्वा' इत्यादि प्रमाणोंसे मेरे अर्पण करतेहैं उनको मेरे स्वरूपवैभवको प्राप्त करताहूं ॥ ११ ॥

कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजंत इह देवताः ॥
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

जो कर्मोंकी सिद्धिकी इच्छा करतेभये इस लोकमें देवताओंका यजन करतेहैं उनकी निश्चयकरके शीघ्र मनुष्यलोकमें कर्मसे उत्पन्न सिद्धि होती है ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

गुणकर्मविभागसे जैसे सत्वगुणप्रधान ब्राह्मण उनके शमदमादि कर्म सत्वरजःप्रधान क्षत्रिय उनके शूरत्वादि कर्म रजस्तमःप्रधान वैश्य

उनके कृषिवाणिज्यादि कर्म तमःप्रधान शूद्र उनके परिचर्यात्मक कर्म ऐसे गुणकर्मविभागकरके चातुर्वर्ण्य यह संसार मैंने सृजा है उसका अविनाशी कर्त्ता भी मेरेको अकर्त्ता जानो ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पंति न मे कर्मफले स्पृहा ॥
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥१४॥

जो प्रथम कहा कि, मेरेको अकर्त्ता जानो उसका कारण कहतेहैं सो ऐसा कि, मेरेको कर्मफलमें इच्छा नहीं इससे मेरे कर्म नहीं लिप्तहोतेहैं ऐसा मेरेको जो जानता है सो कर्मोंकरके नहीं बँधता है ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ॥
कुरुकर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्वसमयके मनु इत्यादिक मुमुक्षुजनोंने भी ऐसे जानके कर्म कियाहै तिससे तुम पूर्व मुमुक्षुनकरके पूर्वकालमें किये भये कर्म हीको करो ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ॥
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् १६

कर्म क्या है और अकर्म क्या है ऐसे इसविषयमें कविजन भी मोहते भये सो कर्म मैं तुम्हारेको कहूंगा जिसको जानके संसारसे मुक्त होगे ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ॥
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७॥

जिसवास्ते कि, कर्म याने करने योग्य कर्म उसका रूप भी जानना चाहिये और विकर्म जिस एककर्ममें विविध प्रकार है उसका रूप भी जानना चाहिये और अकर्म जो निश्चयात्मक बुद्धिकरके केवल ईश्वरारा-

धनार्थ निष्काम कर्म उसकाभी रूप जानना चाहिये इसवास्ते कर्मकी गति दुर्गम है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ॥
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

अब कर्म और अकर्मका स्वरूप जानना कहतेहैं जो प्रारंभित कर्ममें अकर्म याने आत्मज्ञान देखे याने इस निष्कामकर्महीसे ज्ञान होयगा इससे यह ज्ञानही है और जो मनुष्य अकर्म जो आत्मज्ञान उसमें कर्म याने यह कर्मसे भया कर्म ही है ऐसा देखनेवाला मनुष्य मनुष्योंमें बुद्धिमान् है सो योगी और सोई सर्वकर्मोंका करनेवाला है ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ॥
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ १९ ॥

जो कर्म प्रत्यक्ष कररहेहैं उसकी ज्ञानाकारता कैसी होगी सो कहते हैं सो ऐसी कि, जिसके सर्व लौकिक वैदिककर्मोंके आरंभ कामना संकल्परहित हैं ज्ञानरूप अग्निकरके दग्धभयेहैं बंधक कर्म जिसके उसको विद्वान्जन पंडित कहतेहैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ॥
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः ॥२०॥

जो कर्मफलका संबंध छोड़के निरंतर आत्मस्वरूपहीमें तृप्त नश्वर संसारके आश्रयरहित कर्ममें प्रवृत्त भी है तोभी सो कुछ नहीं करता है ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

जो कर्मफलकी आशारहितचित्त और मन जिसका संयममें हो जिसने परमात्मप्रीतिविना और सर्व उपासना त्यागी हो सो केवल शरीरसंबंधी कर्मको करताभया कर्मबंधनरूप पीड़ाको नहीं प्राप्तहोता है ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ॥
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

जो आपही आयमिले इतनेही लाभसे संतुष्ट हो और जो सुखदुःख लाभालाभ जय पराजय हर्ष शोक इत्यादिक द्वंद्वोंकरके रहित होये मत्सर जो दूसरेका सुख न सहना उसकरके रहित कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धि सो कर्म करके भी नहीं बंधनपावै ॥ २२ ॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ॥
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

निवृत्तभयाहै आत्मानंदविना संग जिसका और संसारवासनासे मुक्त है और आत्मज्ञानमें अवस्थित है चित्त जिसका सो जो यज्ञके अर्थ कर्म करे तो उसके बंधनकारक सर्व प्राचीन कर्म नाश होतेहैं॥२३।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

निष्कामकर्मसे ज्ञान होताहै इस भेदसे कर्मकी ज्ञानाकारता कही अब परमात्माके अनुसंधानसे उसी निष्कामकर्मकी ज्ञानाकारता कहतेहैं सो ऐसे कि, जिसकरके हव्य अर्पणकरते हैं वह स्रुवादिक वस्तु ब्रह्म है याने ब्रह्महीका कार्यहै घृतादिक हव्य भी ब्रह्महीहै ब्रह्मरूप अग्निमें यह ब्रह्मरूप हव्य ब्रह्मरूप होताकरके होमाजाताहै ऐसे यह सर्व ब्रह्मरूपहै तिसे ब्रह्मकर्मनियमकरके ब्रह्मही प्राप्त होनेयोग्य है ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ॥

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

ऐसे कर्मयोगकी ज्ञानाकारता कहके अब कर्मयोगके भेद कहतेहैं अपरे 'अकारो वै विष्णुः' इस श्रुतिप्रमाणसे जो विष्णुपरायण हैं वे योगी दैवयज्ञही याने प्रतिमापूजनरूप यज्ञ करतेहैं इनसे और भी ऐसेंही योगी ब्रह्मात्मक अग्निमें यज्ञसाधन सामग्रीकरके हवनात्मक यज्ञहीको हवन करतेहैं ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ॥
शब्दादीन्विषयानन्ये इंद्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

और कितने योगी श्रोत्रादिक इंद्रियोंको संयमरूप अग्निमें होमतेहैं अर्थात् श्रोत्रादिकोंको हरिकीर्त्तिश्रवणादिकहीमें युक्त करतेहैं और कितनेक शब्दादिकविषयोंको इंद्रियरूप अग्निमें होमते हैं याने हरिकीर्त्तनविना और श्रवणादिक नहीं करतेहैं ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ॥
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

और कितने योगी सर्व इंद्रियनके कर्मोंको और प्राणोंके कर्मोंको ज्ञानकरके प्रदीप्त ऐसे मनके संयमरूप अग्निमें होमतेहैं अर्थात् मनकरके इंद्रिय प्राण कर्म वृत्तिनको संसारविषयसे निवारणकरके आत्मज्ञानमें लगानेका यत्न करतेहैं ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ॥
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः ॥ २८ ॥

और कितने योगी द्रव्यसे यज्ञ करतेहैं. याने दानादिक करतेहैं. कितनेक उपवासादि तपरूप यज्ञ करतेहैं. तैसेंही और कितनेक पुण्यक्षेत्रादिक वासरूप योग करते हैं और कितने दृढव्रती यती याने यत्नशील वे वेदाध्ययन वेदार्थविचाररूप यज्ञ करतेहैं ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ॥
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ॥
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ३१॥

और कितनेक कर्मयोगी प्रमाणसे आहार करनेवाले जैसे कि, आधा पेट अन्नसे भरे चौथाई जलसे और चौथाई वायुसंचारनिमित्त खाली राखै ऐसे और प्राणायाम परायण हैं ऐसे योगी अपानमें प्राणको होमतेहैं याने पूरक करतेहैं; तैसेही कितनेक प्राणवायुमें अपानको होमतेहैं याने रेचक करतेहैं. ऐसेही और प्राण अपान दोनोंकी गति को रोकके प्राणोंको प्राणनही में होमतेहैं याने कुंभक करतेहैं; इतने ये सर्व भी यज्ञके जाननेवाले यज्ञकरके पापरहित यज्ञहीका शेष अमृतरूप अन्नके खानेवाले सनातन ब्रह्मको प्राप्त होतेहैं. हे कुरुवंशिनमें श्रेष्ठ अर्जुन! जो यज्ञ नहीं करताहै उसको यह लोकभी नहीं है और परलोक तो कैसे होयगा ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ॥
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२॥

ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ ब्रह्मके मुखमें याने वेदमें विस्तारसे कहेहैं उन सबको कर्मज जानो याने वे कर्महीसे होते हैं, ऐसे जानिके कर्म करके मुक्त होवोगे ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ॥
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परंतप! द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, कारण कि, द्रव्य-

यज्ञकाभी फल ज्ञानही है हे पार्थ ! फलसहित सर्व कर्म ज्ञानमें समाप्त होताहै; याने इस ज्ञानहीके वास्ते यज्ञ करतेहैं ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

सो ज्ञान तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुमको उपदेशेंगे तुम उनकी सेवा करके और सत्कारपूर्वक नमस्कार करके उनसे प्रश्न करके जानो ॥ यहां श्रीकृष्णभगवान्‌ने केवल ज्ञानीजनोंकी प्रशंसानिमित्त यह वाक्य कहाहै और " अविनाशि तु तद्विद्धि " यहांसे लेके "एषा तेभिहिता सांख्ये" यहां पर्यंत ज्ञान उपदेश तो करही चुकेहैं ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ॥
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

हे पांडुपुत्र ! जिस ज्ञानको जानिके ऐसे मोहको फिर नहीं प्राप्त होगे. जिसज्ञानकरके सर्व भूतप्राणिमात्रको आपसदृश देखोगे. जैसे कि, प्रकृतिसे भिन्न ये परज्ञानाकारतासे सर्वसमान हैं आपसदृश देखे पीछे फिर मेरेसमान देखोगे याने ज्ञान प्राप्तभये जीव मेरी समताको प्राप्तहोतेहैं सो आगे कहेंगेभी " इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥ " यहां ब्रह्मसूत्र भी प्रमाणहै "भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च" ऐसेही श्रुतिभी प्रमाण है "तथा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमां शांतिमुपैति ॥" इत्यादिप्रमाणोंसे नामरूपरहित याने सूक्ष्मावस्थामें आत्मा और परमात्माकी स्वरूपसमता निश्चय होतीहै ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ॥
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

जो कि, सर्व पापिनसे भी तुम बड़े पापकारक होउगे तो भी इस ज्ञानरूप नौका करकेही सब दुःखसमुद्रको तरोगे ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि इंधनको समग्रभस्मकरताहै तैसे विज्ञानरूप अग्नि सर्वकर्मबंधनको समग्र भस्मकरताहै ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥ ३८ ॥

इसलोकमें निश्चयकरके ज्ञानके सदृश पवित्र नहीं है उस ज्ञानको कुछकाल कर्म करते करते कर्मयोगसे सिद्धिभयाहुवा आपहीमें आप ही प्राप्तहोताहै ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः ॥
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

ज्ञानप्राप्तिमें लगाभया इंद्रियोंको संयममें कियेभये श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्तहोते हैं उसज्ञानको पाइके थोड़ेहीकालमें परमशांति को प्राप्त होताहै ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ॥
नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

जो अज्ञानहै और ज्ञानप्राप्तिमें श्रद्धाको भी नहीं धारणकियेहैं और मनमें संशय रखताहै सो नष्टभ्रष्ट संसारमें भ्रमताहै जिसके मनमें संशय है उसको यह लोक सुखदायक नहीं है परलोक भी नहीं है उसको कहीं भी सुख नहीं है ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ॥
आत्मवंतं न कर्माणि निबध्नंति धनंजय ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन ! परमेश्वराराधनरूप जो निष्काम कर्मयोग उस योगकरके

परमात्माके अर्पण कियेहैं कर्म जिसने और ज्ञानकरके संछिन्नभये हैं संशय जिसके ऐसे स्थिरचित्त ज्ञानीको कर्म नहीं बंधनकरतेहैं ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ॥
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

हेभरतवंशोत्पन्न अर्जुन ! तिससे जो अज्ञानसे उत्पन्न तुम्हारे हृदयमें स्थित ऐसे इस आपके संशयको ज्ञानखड्गसे छेदनकरके उठो और कर्मयोगमें प्रवृत्त होउ याने क्षत्रियका कर्म युद्ध करो ॥ ४२ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायांश्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां चतुर्थोऽध्यायप्रवाहः ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ॥
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीकृष्णको अर्जुन पूंछतेहैं कि, हे कृष्ण! कर्मोंका संन्यास जो ज्ञानयोग उसको और फिर कर्मयोगको कहतेहो इन दोनोंमें एक जो निश्चय कियाभया श्रेष्ठ होय उसीको मुझे कहो जैसे कि, दूसरे अध्यायमें कहा कि, मुमुक्षु प्रथम कर्मकरके अंतःकरण शुद्धभयेपर ज्ञानयोग करके आत्मदर्शनका उपायकरे तीसरे चौथेमें ज्ञानीको भी कर्म करना ही श्रेष्ठ कहा, ऐसे दोनों कहते हो जो इन दोनोंमें श्रेष्ठ हो सोई कहो॥१॥

श्रीभगवानुवाच।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ॥
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

जब अर्जुनने प्रार्थना की तब श्रीकृष्ण भगवान् बोले सो ऐसे कि, संन्यास जो कर्मका त्याग और कर्मयोग ये दोनों कल्याणकारक हैं. तिनमेंसे भी कर्मके त्यागसे कर्मयोग विशेष श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ॥
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे महाबाहो ! जो न कोई वस्तुसे द्वेष करै, न चाहनाकरै, सो सुखदुःखादि द्वंद्वरहित नित्यसंन्यासी जानना वह सुखपूर्वक निश्चय बंधनसे मुक्त होताहै ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पंडिताः ॥
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विंदते फलम् ॥ ४ ॥

जो मूर्ख हैं वे सांख्ययोगोंको याने ज्ञानकर्मोंको न्यारे कहतेहैं पंडित नहींकहतेहैं. इन दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छीतरहसे स्थितरहाभया दोनोंके फलको पाता है ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

जो स्थान ज्ञानकरिके प्राप्तहोता है सोई कर्मकरिकेभी प्राप्तहोता है; इससे ज्ञानको और कर्मको जो एक जानताहै सो जानता है याने विद्वान् है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ॥
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

हे महाबाहो ! यह संन्यास कर्मविना प्राप्तहोनेको दुर्गम है याने होने-

हीका नहीं और जो कर्मयोगयुक्त आत्मज्ञानमें मनलगाये है सो थोड़ेही कालमें ब्रह्मको प्राप्तहोताहै ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेंद्रियः ॥
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जो कर्मयोगयुक्त है याने निष्काम कर्म करताहै और वाणी जिसकी शुद्ध है याने वाणीसे हरिकीर्त्तन करताहै और मन शुद्ध है याने मनसे हरिस्मरण करताहै और जितेंद्रिय है याने इंद्रियविषयको श्रेष्ठ नहीं जानताहै और सर्वभूतप्राणीका आत्मा अंतर्यामीमें है आत्मा मन जिसका सो पुरुष कर्म करताभया भी नहीं लिप्त होता है ॥ ७ ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ॥
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥
इंद्रियाणींद्रियार्थेषु वर्त्तंत इति धारयन् ॥ ९ ॥

इंद्रियनके विषयोंमें इंद्रियां वर्त्तमान रहतीहैं ऐसे धारणकरेभये तत्वज्ञानी कर्मयोगी देखता, सुनता, स्पर्शता, सूंघता, खाता, चलता, सोता, श्वासलेता, बोलता, छोड़ता, पकरता, नेत्रखोलता, मीचता भयाभी मैं कुछ भी नहीं करताहूं ऐसे मानताहै ॥ ८ ॥ ९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ॥
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥

जो शरीरमें याने शरीरस्थ इंद्रियनमें कर्मोंको धारणकरके याने कर्मकरनेवाली इंद्रियां है ऐसे जानिके कर्मफलासक्तिको त्यागिके कर्म करता है सो पापकरके नहीं लिप्त होताहै, जलकरके कमलपत्रसरीखा ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिंद्रियैरपि ॥
योगिनः कर्म कुर्वंति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

जो योगी हैं वे फलसंग त्यागिके आत्मशुद्धिके वास्ते याने आत्मगत प्राचीन कर्मबंधन छूटनेके वास्ते शरीरकरके, मनकरके, बुद्धिकरके, केवल इंद्रियोंकरके भी कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ॥
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्ध्यते ॥ १२ ॥

युक्त याने आत्मज्ञान योगयुक्त पुरुष कर्मफलको त्यागिके ईश्वरनिष्ठ शांतिको प्राप्तहोताहै जो आत्मज्ञान योगरहित है सो यथेष्ट करणकरके फलविषे आसक्तभया ऐसा जो जीव सो बंद्धहोय ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ॥
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

वशी याने जिसका चित्त वशहै ऐसा देही देहधारी जीव सो नवद्वारका पुर जो देह तिसमें मनसे सब कर्मोंको स्थापितकरके न करता नैं कराता भया सुखे जैसे होय तैसे ही रहता है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ॥
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ १४ ॥

प्रभु याने अविनाशी आत्मा लोक जो देवादिक शरीर तिसका नैं कर्त्तापन न कर्म नैं कर्मफलके संयोगको सिरजताहै क्योंकि, यह स्वभाव याने अनादिकाल प्रकृतिसंसर्गकी वासना प्रवृत्त है ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ॥
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जंतवः ॥ १५ ॥

जैसे कि, कर्तृत्व और कर्मोंको नहीं उत्पन्नकरताहै इसीसे यह जी-

वात्मा किसी शरीरसंबंधी पापको भी नहीं ग्रहणकरता है और सुकृत
को भी नहीं ग्रहणकरता है क्योंकि, जिनका ज्ञान अज्ञानकरके ढके-
रहाहै उस करके वे जीव मोहको प्रांप्त होतेहैं याने अज्ञानकरके देहा-
दिकमें आसक्ति और उससे दुःख होताहै ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ॥
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

परंतु जिनका आत्मसंबंधी ज्ञानकरके वह अज्ञान नष्टभयाहै उनका वह
श्रेष्ठ ज्ञान सूर्यसदृश प्रकाश करताहै याने वे संसारदुःखरहित मुक्तहैं १६।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ॥
गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

उस आत्मज्ञानहीमें है बुद्धि जिनकी उसीमें है मन जिनका उसीमें
है निष्ठा जिनकी और वही है श्रेष्ठस्थान जिनका इसतरहसे ज्ञानकरके
नष्ट भये हैं मनके विकार जिनके वे पुरुष मुक्तिको पावतेहैं॥ १७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ॥
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८॥

विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें, गऊमें, हाथीमें और कुत्तेमें और
चांडालमें भी पंडितजन समदर्शी होतेहैं याने आत्माको आपसदृश
जानते हैं ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ॥
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः १९॥

जिनका मन ऐसी समतामें स्थितहै उन्होंने इहां ही संसार जीता
है. जिसवास्ते कि, ब्रह्म निर्दोष सर्वत्र समान है तिसीसे वे ब्रह्मप्राप्ति-
निमित्त स्थित हैं ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ॥
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

प्रियवस्तुको पायके हर्षना नहीं और अप्रियको पायके व्याकुल न होना; ऐसा स्थिरबुद्धि, विचारशील ब्रह्मका ज्ञाता ब्रह्मप्राप्तिनिमित्त स्थितहै ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ॥
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

जो शब्दादिक विषयोंमें अनासक्तभयाहुआ जो आत्मामें सुखको पावताहै सो ब्रह्मप्राप्ति उपायचित्तवाला पुरुष अक्षय सुखको पावताहै याने मोक्ष पाताहै ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ॥
आद्यंतवंतः कौंतेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

हे कुंतीपुत्र! जे शब्दस्पर्शादिक भोग हैं वे दुःखके कारण आद्यंतवंत याने होतेजाते रहते हैं अर्थात् अल्पसुख हैं इस निश्चयसे उनमें पंडितजन नहीं रमते हैं ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ॥
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो मनुष्य कामक्रोधके वेगको शरीरसे निकसनेके प्रथम उस वेगको सहनेको सकताहै सो योगी है सो मनुष्य इसे ही लोकमें सुखीहै ॥ २३ ॥

योंतःसुखोंऽतरारामस्तथांतर्ज्योतिरेव यः ॥
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो आत्माहीमें सुखी और आत्माहीमें है विश्राम जिनको तैसे

ही जो अंतर्ज्योति याने आत्मज्ञान ही करके प्रकाशितहै सोई योगी ब्रह्मप्राप्ति उपायतत्पर ब्रह्मवत् मुक्तिको प्राप्तहोताहै ॥ २४ ॥

लभंते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ॥
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जिनके लाभ अलाभ सुखदुःखादिक दो दो उपद्रव नष्ट भयेहैं जिनका मन ईश्वरमें लगा है और सर्वभूतप्राणिमात्रके हितमें रहतेहैं इससे उनके पाप क्षीण भयेहैं ऐसे ऋषिजन ब्रह्मसमान मुक्तिको पातेहैं ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ॥
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

जो कामक्रोधरहित हैं और ईश्वरप्राप्तिके यत्नकरनेवालेहैं और चित्त जिनके वश हैं ऐसे आत्मज्ञानिनको सर्वप्रकारसे ब्रह्मसुख वर्त्तमान होरहाहै ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः ॥
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेंद्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥
विगतेच्छाभयक्रोधो यःसदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाह्यइंद्रियोंके स्पर्श जो शब्दादिक विषय तिनको बाहर याने त्याग करके फिर भौंहोंके मध्यमें दृष्टिको करके नासिकाके भीतरही संचार करैं ऐसे प्राणापानोंको सम करके जो मुनि याने मननशील पुरुष इंद्रिय, मन और बुद्धिको वश करै मोक्षहीमें आसक्त इच्छा, भय और क्रोधकरके रहित होय सो सदा मुक्तही है ॥ २७॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ॥
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति ॥२९ ॥

अब और भी अतिसुगम मुक्तिका उपाय कहतेहैं:सर्व यज्ञ और तपोंका

भोक्ता सर्वलोकोंका महेश्वर याने लोकेश्वरोंका भी ईश्वर सर्वभूतप्राणिनका सुहृद् ऐसा मेरेको जानिके भी मुक्तिको प्राप्तहोता है ॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो-नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां गीतामृततरंगिण्यां पंचमाध्यायप्रवाहः ॥ ५ ॥

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ॥
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

कर्मयोग कहिके अब ज्ञानकर्मसाध्य आत्मदर्शनरूप योगाभ्यास कहतेहैं. तहां कर्मयोगकी अपेक्षारहित योगसाधनत्व दृढकरनेको ज्ञानाकार कर्मयोगको योगशिरोमणि कहतेहैं सो ऐसे कि, जो कर्मफलको नचाहताभया स्ववर्णाश्रमोचित करनेयोग्य कर्मको करताहै सो संन्यासी है और योगीहै और जिसने अग्निकर्मको त्यागाहै सो संन्यासी और योगी नहीं है और जिसने क्रियाकर्मको त्यागाहै सोभी संन्यासी योगी नहींहै ॥

यहां श्रीकृष्णका एक अभिप्राय औरभी दीखताहै कि, कलियुगमें संन्यासका निर्वाह होगानहीं. क्योंकि मनुष्योंकी बुद्धि चंचल होगी. सो देखनेमेंभी आता है कि, जो घर छोड़ते हैं तौ संन्यासी ह्वैके मठ बांधिके व्यापार करते हैं. जो स्त्री विवाहित नहीं तौ परस्त्रीगमन करते हैं. पुत्रोंकी जगह शिष्य करते हैं; ऐसेही औरभी सामान्यगृहस्थोंसे अधिक रखके केवल प्रपंचरत होते हैं इससे श्रीकृष्णने निष्कामकर्मकर्त्ताहीको संन्यासी योगी कहा है और अग्निकर्म तथा क्रियात्यागनेका निषेध किया है ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव ॥
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

अब कहेभये कर्मयोगमें ज्ञानभी दिखातेहैं- हेपांडुपुत्र ! जिसको संन्यास कहतेहैं उसको अभेदकरके योग जानो जिसवास्ते कि, कर्मफल संकल्प त्यागेविना कोईभी योगी नहीं होता है. अर्थात् कर्मफलको ईश्वरार्पण कियेविना योगी संन्यासी होता नहीं. जो कर्मफलको ईश्वरार्पण करताहै वही योगी और संन्यासी है ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ॥
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

आत्मज्ञानकी प्राप्ति चाहनेवाले मननशीलको ज्ञानप्राप्तिकारण कर्म कहाहै उसी ज्ञानप्राप्तभयेको मुक्तिकारण संकल्पविकल्पत्यागपूर्वक कर्म ही कहाहै ॥ ३ ॥

यदा हि नेंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ॥
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जब न इंद्रियोंके विषयनमें न कर्मोंमें आसक्तहोय तब सर्वसंकल्पोंका त्यागी योगारूढ कहाताहै इससे कर्मकरना अवश्यहै ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

ऐसे आपके वश मनकरके आपका उद्धारकरना, आपका अवसाद याने घात याने अधोगति नकरना. कारण कि, आपका मन ही आपका मित्र है और वह मन ही आपका शत्रु है ॥ ५ ॥

बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ॥
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जिसने बुद्धिकरके निश्चय मन जीताहै उस जीवात्माका मन मित्र है और जिसने मन नहीं जीताहै उसका मन ही शत्रुत्वसे शत्रुसरीखा होता है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः ॥
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

शीत उष्ण सुख और दुःखमें तैसेही मान अपमानोंमें जीताहै मन जिसने ऐसे शांतकी बुद्धि अतिशय परिपूर्ण रहतीहै ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेंद्रियः ॥
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

ज्ञान जो आत्मज्ञान विज्ञान जो विशेषज्ञान याने अनात्म आत्मविवेक इन करके जिसका मन तृप्त होय कूटस्थ याने सर्वशरीरोंमें आत्माको समान जानिके निर्विकार इसीसे जितेंद्रियत्वसे जो ठीकरी पत्थर और सोना इनको सम जान रहाहै ऐसा योगी युक्त याने आत्मदर्शनयोगयुक्त कहाताहै ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ॥
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद् जो प्रत्युपकारविना हितकारक मित्र परस्पर उपकारी अरि शत्रु उदासीन जो प्रीति वैररहित मध्यस्थ जो सर्वकाल प्रीति वैर समान द्वेष्य जो सदा ईर्षा करता होय सो जो सदाहितेच्छु सो बंधु जो धर्मशील सो साधु और जो पापशील सो पापी इन सबोंमेंभी जो समबुद्धि होय सो श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ॥
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

एकही बैठा स्ववशचित्तमनवाला सांसारिक आशारहित आत्म-

विना परिग्रहरहित ऐसा योगी एकांतमें बैठाभया मनको निरंतर त्मामें लगातारहै ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः ॥
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

अब योगाभ्यासमें आसननियम कहतेहैं. जैसे कि, पवित्र स्थानमें न अति ऊंचा न अति नीचा कुशासनपर मृगचर्मादिक उसपर वस्त्र ऐसा और थिर आपका आसन बिछाइके उस आसनपर बैठिके मनको एकाग्र करके चित्त और इंद्रियोंके कर्म स्ववशकिये भया अपना बंधन छुटनेके वास्ते योगको करै ॥ ११ ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम् ॥
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशांतात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ॥
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

अब बैठनेका नेम कहतेहैं—काया जो मध्यशरीर शिर और ग्रीवा इनको अचल थिर और सम राखेभये आपके नासिकाग्रको देखिके और और और नदेखताभया प्रशांतचित्त भयरहित ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित मेरेमें चित्तलगाये भये मनको नियमितकरके आत्मनिष्ठ पुरुष मेरेमें लीनभयाहुआ बैठारहै ॥ १३ ॥ १४ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ॥
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

ऐसे नियममें मनहै जिसका ऐसा योगी ऐसेही सर्वकालमें मनको मेरेमें लगाताभया आनंद है परम जिसमें ऐसी मेरेसदृश शांतिको पावताहै ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तुयोगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ॥
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

अब योगीके आहारादिकोंका नियम कहतेहैं—जैसे कि, हे अर्जुन ! जो अति भोजन करताहै उसका योग नहीं सिद्धहोताहै; और जो कुछभी भोजन नकरै उसकाभी योग नहीं सिद्धहोताहै और अतिसोनेवालेका योग नहीं सिद्धहोताहै; और अतिजागनेवालेका भी योग नहीं सिद्धहोताहै ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ॥
युक्तस्वप्नाऽवबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

जो आहार और स्त्रीप्रसंग प्रमाणमें करैगा " आहारका प्रमाण यह कि, आधापेट अन्नसे और चौथाई जलसे भरके चौथाई पवनसंचारके वास्ते खाली राखै, स्त्रीप्रसंगप्रमाण यह कि, अतिकामकी इच्छा होनेसे स्त्रीसंग करै, जो कोई यहां शंका करै कि, योगीको तो ब्रह्मचर्य कहि आये हैं—जैसे कि, इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें कहाहै सो सत्य है; परंतु " ऋतौभार्यामुपेयात् " इस श्रुतिप्रमाणसे ऋतुसमयमें स्त्रीप्रसंग करनेमेंभी एक ब्रह्मचर्य है; औरभी कहाहै कि, "इंद्रियाणींद्रियार्थेषु वर्त्तंत इति धारयन् ॥ कर्मेंद्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन" इत्यादि तथा कहेंगे कि, " अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्" तो जो योगी स्त्रीप्रसंग न करैगा तो उसके कुलमें जन्म कैसे होगा ? इत्यादि प्रमाणोंसे योगी स्त्रीप्रसंग प्रमाणसे करै यह विहारशब्दका अर्थ सिद्धहै। ऐसेही कर्ममेंभी चेष्टा प्रमाणहीसे करै अति परिश्रम नकरैना यहाँ भागवतका प्रमाणदेतेहैं " सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः" ऐसा द्वितीयस्कंधके

दूसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहाहै ऐसेही जो प्रमाणसे सोवै और प्रमाणहीसे जागै उसका दुःखनाशक योग सिद्ध होताहै ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ॥
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

जब आत्माहीमें अतिनिश्चल चित्त लगरहताहै तब सर्वकामनाओंसे निःस्पृहहुआभया वह पुरुष युक्त ऐसा कहाताहै ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ॥
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

जैसे निवातस्थानमें धराभया दीपक नहीं हालता तथा डोलताहै तैसेही वशहै चित्त जिसका ऐसे योगके करनेवाले योगीके मनकी उपमा सोई कहीहै ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ॥
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

योगसेवन करके विषयोंसे रोकाभया चित्त जहां विश्रामको प्राप्त होताहै और जहां बुद्धिकरके आत्मस्वरूपको निश्चय करता भया मन हीमें संतुष्ट होय ॥ २० ॥

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् ॥
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ॥ २१ ॥

जो इंद्रियोंके जाननेमें नआवै बुद्धिकरके ग्रहणकरनेमें आवै ऐसा अत्यंत सुख उसको जिसयोगमें स्थितभयाहुआ यह पुरुष जानेहै ऐसा निश्चयै और फिर आत्मस्वरूपसे न चलायमान होय ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ॥
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

जिसको पायके फिर उससे अधिक श्रेष्ठ लाभ नहीं मानताहै जिसमें प्रवर्त्ते भारी भी दुःखकरके नहीं घबराताहै ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

उसको दुःखसंयोगवियोगकारक योगनामक जानना सो योग निर्विकल्पचित्तसे निश्चयकरके करनेही योग्यहै ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ॥
मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥
शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ॥
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥२५॥

स्पर्शजन्य और संकलपज ऐसे भेदसे कामना दोप्रकारकी है, तिनमें स्पर्शज शीत उष्णादिक, संकलपज पुत्रवित्तादिक इनमें स्पर्शजका त्याग स्वरूपसे नहींहोसकता इससे संकलपज सर्व कामनाओंको समग्रतासे मनहीसे त्यागिके सर्व इंद्रियोंको सर्वत्रसे नियमित करके विवेकशुद्ध बुद्धिकरके धीरे धीरे विश्रामको प्राप्तहोना फिर मनको आत्मस्वरूपमें स्थिर करके आत्मस्वरूपविना किसीकाभी न चिंतवनकरना ॥ २४ ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ॥
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

यह मन चंचल है इसीसे आत्मस्वरूपमें थिर नहीं रहताहै. सो यह मन जहां जहां लगै तहांतहां से इसको फिरायके आत्मस्वरूपंहीमें लगाना ॥ २६ ॥

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ॥
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

कारण कि, जिसका मन आत्मस्वरूपमें स्थिर है उसीसे उसका रजोगुणभी नष्टभयाहै, उससे वह निष्पापहै, उससे वह आपके स्वरूपमें स्थिरहै ऐसे इस योगीको उत्तम याने आत्मानुभवरूप सुख. प्राप्त होताहै ॥ २७ ॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ॥
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

ऐसे निष्पाप योगी इसीतरह सर्वदा मनको स्वरूपज्ञानमें युक्त करताकरता ब्रह्मानुभवरूप अत्यंत सुखको सुखसे पावताहै ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ॥
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

सर्वत्र शत्रुमित्रादिकोंमें समदृष्टियोग जो "द्वासुपर्णासयुजा सखाया" इस श्रुतिप्रमाणसे सखित्वरूप संयोग उसमें लगायाहै मन जिसने सो आपरूपको आकाशादि सर्वभूतोंमें स्थित और उनका आकाशादि सर्वभूतोंको आपमें देखताहै ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ॥
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

ऐसे जो मेरेको सर्वत्र मालाके मणिकोंमें सूत्रकीतरह देखता है और सर्वजगत् सूत्रमें मणियोंकी तरह मेरेमें देखता है मैं उसके अदृश्य नहीं होताहूं और वह मेरे नहीं अदृश्य है ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ॥
सर्वथा वर्त्तमानोपि स योगी मयि वर्त्तते ॥ ३१ ॥

जो एकत्व याने सर्वसे मित्रभाव, (एकत्वका अर्थ जो स्वरूपकी एकताकरै तो भजन किसका करै ? इससे मित्रताही अर्थ है. वाल्मीकीय सुंदरकांडमें भी " रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत " इस

हनुमान्के वाक्य करके एकताका अर्थ मित्रता ही सिद्ध होताहै इस से) जो सर्वकी मित्रतामें रहाभया सर्वभूतोंमें व्यापक मेरेको भजताहै निश्चय सो योगी सर्व आचरण करताभया मेरेमें वर्त्तमानहै याने मेरे हृदयमें वसता रहताहै ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ॥
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! जो सुख अथवा दुःखको आपके समत्व करके सर्वत्र समान देखता है सो योगी उत्तम है. यह श्लोक उनतिसवे श्लोकका खुलासा करनेवाला है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ॥
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ३३

श्रीकृष्णके वाक्य सुनके अर्जुन बोलते भये कि, हे मधुसूदन ! जो यह योग समताकरके तुमने कहा सो मनके चंचलत्वसे मैं इस की स्थिर स्थिति नहीं देखताहूं ॥ ३३ ॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ॥
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

हे कृष्ण ! जिससे कि, यह मन चंचल इंद्रियोंका क्षोभक दृढ बली है मैं इसको रोकना पवनका रोकना जैसा दुष्कर मानताहूं ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ॥
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

ऐसा सुन श्रीकृष्णभगवान् बोले कि, हे महाबाहो ! यह मन चंचल है इसीसे रोकनेमें आना कठिन है. यहां संशय नहीं तोभी हे कुंती-

पुत्र ! अभ्यास करके और वैराग्यकरके रोकनेमें आताहै ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ॥
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

यह योग जिसने मन वश न किया उसकरके प्राप्त होनेका नहीं ऐसी मेरी मति है और जिनने मनको वश कियाहै उसकरके यत्न करते करते उपायसे प्राप्ति होनेको सकताहै ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ॥
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥३७॥

"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते" इत्यादि वाक्यों-करके योगमाहात्म्य सुना था तौ भी विशेषज्ञानके वास्ते फिर पूंछ-ते हैं-जैसे कि, हे कृष्ण ! जो श्रद्धाकरके युक्त और यत्न न करसका इस से योगसे मन चलायमान भया इससे योगसिद्धिको न पायके किस गतिको जाताहै ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ॥
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो ! वेदके मार्गमें भूलाभया याने स्वर्गादिप्राप्तिनिमित्त कर्मत्यागके निष्कामकर्मरूप योगको भी न प्राप्तभया इसीसे वह अप्रतिष्ठित और उभयभ्रष्ट याने स्वर्गादिप्राप्तिकारक कर्मभी छोडा और योगभी नमिला इसीसे कदाचित् छिन्नाभ्रकी तरह जैसे बडे मेघमेंसे निकसिके मेघका टुकडा दूसरे मेघको न प्राप्त होके बीच-हीमें नष्टहोताहै तैसे न नष्टहोई ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ॥
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हेकृष्ण ! इसे मेरे संशयको अच्छीतरहसे छेदन करनेको योग्यहो क्योंकि, इस संशयका छेदनेवाला तुमबिन दूसरा नहीं मिलेगा ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ॥
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

अर्जुनके वाक्य सुनिके कृष्ण बोले कि, हे पार्थ ! उस योगीका नाश न इस लोकमें ही न परलोकमें होताहै; क्योंकि हेतात ! शुभकर्त्ता कोई भी दुर्गतिको नहीं पावताहै ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

जो योग पूराभयेविना मरजाय तौ भी वह योगभ्रष्ट पुण्यकरके उपार्जित लोकोंको प्राप्तहोके वहां अनेक वर्ष रहिके पवित्र और धनवालोंके घरमें जन्मताहै ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा बुद्धिमान् योगिनके कुलमें ही जन्मताहै, जो ऐसा यह जन्म सो इस लोकमें निश्चय दुर्लभहै ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ॥
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥ ४३ ॥

हे कुरुनंदन ! वहां जन्मलेके वही पूर्व देहसंबंधि बुद्धिसंयोगको पावताहै और उसपीछे फिरभी उस सिद्धिनिमित्त यत्नकरताहै ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि सः ॥
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥

जो न करना चाहै इंद्रियजित न होय तो भी वह पुरुष उसी

पूर्वाभ्यासकरके ही इसीको प्राप्तहोताहै. क्योंकि जो योगके जाननेकी भी इच्छाकरे तौ भी शब्दब्रह्म ताने देवादिनाम शब्दयुक्त जो प्रकृति इसको उल्लंघन करजाताहै याने मुक्त होता है ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ॥
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

ऐसे प्रयत्नसे योगकरता करता निष्पाप भयाहुआ योगी अनेक जन्मोंकरके सिद्धभया तब उत्तम मुक्तिको प्राप्तहोताहै ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ॥
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

हे अर्जुन ! योगी जो निष्काम कर्म कर्त्ता सो सकामिक तपस्विनसे अधिक मानाहै, ज्ञानिनसे भी अधिकहै और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी अधिकहै; तिससे तुम योगी हो याने निष्काम होके स्वधर्मरूप क्षत्रियकर्म युद्ध करो ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना ॥
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अभ्यास-
योगोनाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

जो श्रद्धावान् पुरुष मेरेमें लगारहै जो चित्त ऐसे चित्तकरके मेरेको भजताहै सो सब योगिनमें भी श्रेष्ठ योगी है ऐसा मेरा अभिप्राय है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायांश्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां षष्ठाध्यायप्रवाहः ॥ ६ ॥

इति प्रथमं षट्कं समाप्तम्।

अथ द्वितीयषट्कं प्रारभ्यते ॥ प्रथम षट्कमें याने प्रथमके छः अध्यायनमें ईश्वरप्राप्तिका उपायरूप भक्तियोगका अंग आत्मस्वरूपज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानयोग कर्मयोगसे कही. अब मध्यषट्कमें याने छःसे बारहपर्यंत छः अध्यायनमें परमात्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान और उस ज्ञानके माहात्म्यपूर्वक भगवान्‌की उपासना याने भक्ति इसीको प्रतिपादन करते हैं. इसका खुलासा अठारवहें अध्यायमें पैंतालिस श्लोकपीछे "यतःप्रवृत्तिः" यहाँसे लेके "मद्भक्तिं लभते परां" इस चौअनवें श्लोकपर्यंत कहेंगे. अब सातवें अध्यायमें भगवान् आपका स्वरूपवैभव वर्णन करेंगे ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः ॥
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! तुम मेरेमें चित्तलगायेभये मेरे आश्रित भयेहुये योगमें युक्तभये हुये जैसे संशयरहित समग्र याने विभूति बलसहित मेरे को जानोगे सो सुनो ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ॥
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तुम्हारेको इस विज्ञानसहित ज्ञानको संपूर्णकरके कहता हूं जिसको जानके फिर इस लोकमें और जाननेयोग्य नहीं रहता है॥२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ॥
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥ ३ ॥

मनुष्योंके हजारोंमें याने अनेक हजारमनुष्योंमें आत्मज्ञानसिद्धिके वास्ते कोई एक यत्नकरताहै यत्नकरनेवाले सिद्धोंमें भी

कोइ एक मेरेको निश्चयकरके जानताहै अर्थात् ऐसा जानने-
वालाही दुर्लभ है ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ॥
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ॥
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

हेमहाबाहो ! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि
और अहंकार ऐसे आठ प्रकारकरके न्यारीन्यारीभयी यह जो
मेरी प्रकृति सो यह अपरा याने जड है और इससे और जीवरू-
पको मेरी परा याने चेतन प्रकृति जानो जिस प्रकृतिकरिके यह
जगत् धारण भयाहै ॥ ४ ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ॥
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

सर्वभूत प्राणीमात्र इन्ही दोनोंसे प्रगट होतेहैं ऐसा जानो. मैं सब
जगत्का उत्पत्तिस्थान तथा प्रलयस्थान भी हूं ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं किंचिन्नान्यदस्ति धनंजय ॥
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

सूत्रमें मालाके मणियोंकी तरह मेरेमें यह सब जगत् पोहा है
इसीसे हे धनंजय मेरेसे न्यारा और कुछभी नहीं है ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौंतेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ॥
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

"सूत्रे मणिगणा इव" इसीको दिखातेहैं. हे कुंतीपुत्र ! जलमें रस
चंद्रसूर्यकी कांति सववेदोंमें ओंकार आकाशमें शब्द पुरुषोंमें पुरु-
षार्थ मैं हूं याने इन जलादिकोंके सार जो रसादिक उनका भी शरी-

री मैं और वे मेरे शरीर हैं ऐसे अहंशब्दका अर्थ सर्वत्र शरीरशरी-रीसंबंधसे जानना ॥ ८ ॥

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ॥
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पृथिवीमें पवित्र गंध और अग्निमें तेज मैंही हूं सर्वभूतप्राणिनमें आयुष्य और तपस्विनमें तप मैं हूं ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ॥
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

हे पार्थ ! सर्वभूतोंका सनातन उत्पत्तिकारण मेरेको जानो मैं बुद्धि-मानोंमें बुद्धि तेजस्विनमें तेज हौं ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ॥
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

हे भरतर्षभ ! मैं जो वस्तु प्राप्त नहीं उनकी कामना और प्राप्त वस्तुमें जो अनुराग इन कामरागोंविना बलवंतोंका बल और भूत प्राणिनमें धर्मसे अविरुद्ध काम हूं ॥ ११ ॥

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ॥
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥१२॥

जो शमादिक सात्विक भाव और द्वेषादिक राजस और जं-मोहादिक तामस भाव हैं वे मेरेसे ही हैं ऐसे उनको जानो और मैं उनमें नहीं याने उनके स्वाधीन नहीं हूं वे मेरेमें हैं याने मेरे स्वाधीन हैं ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ॥
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

इन तीनों गुणमय भावोंकरके मोहित यह सर्व जगत् इनसे परं अविनाशी मेरेको नहीं जानता है ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ॥
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते ॥ १४ ॥

जिसवास्ते कि, यह गुणमयी दैवी याने मेरे संबंधिनी मेरी माया दुरत्यय है इसीसे जो मेरे शरण होतेहैं वे इस मायाको तरतेहैं॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यंते नराधमाः ॥
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

मायाकरके हरागयाहै ज्ञान जिनका ऐसे मनुष्य वे असुरनके धर्मको प्राप्तहोरहे निंदित कर्मकरनेवाले नरनमें अधम मूर्ख मेरेको नहीं भजतेहैं ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ॥
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं च स च मे प्रियः॥१७॥

हे अर्जुन ! एकप्रकारके जो संसारसे दुःखी दूसरे जाननेकी इच्छा करनेवाले तीसरे धनादिक चाहनेवाले और चौथे ज्ञानी याने स्वरूपज्ञाता ऐसे चार प्रकारके सुकृती जन मेरेको भजतेहैं. हे भरतर्षभ ! तिनमें ज्ञानी नित्ययोगयुक्त मेरी मुख्यभक्तिवाला श्रेष्ठ है कारण कि, ज्ञानीके मैं अत्यंत प्रियहूं और सो मेरे अतिशय प्रिय है ॥ १६ ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

वे सर्व ही उदार हैं तो भी ज्ञानी आत्माही मेरेको पुत्रवत् प्रियहै,

ऐसा मेरा अभिप्राय है कारण कि, वह मेरेहीमें चित्तको युक्तकिये भये सर्वोत्तम गति मेरेही को ध्यावताहै ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ॥
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

अनेक जन्मोंके अंतमें सर्वजगत् वासुदेवरूप है ऐसें ज्ञानवान् होताहै याने वासुदेवात्मक जानिके ईर्षादिरहित होताहै तब मेरेको भजताहै सो महात्मा अति दुर्लभ है याने कोट्यावधीनमें कोईएक होता है ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः ॥
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताःस्वया ॥ २० ॥

दूसरे सर्व तो आपकी राजस तामस प्रकृतिकरके राजस तामस कर्मोंमें लगेभये उनउन कामनोंकरके नष्टज्ञानभयेहुये उनउन पुत्रादिनिमित्त नियमोंको धारणकरके अन्यदेवोंको भजते हैं ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ॥
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ॥
लभते च ततःकामान्मयैव विहितान्हितान् ॥ २२ ॥
अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ॥
देवान्देवयजो यांति मद्भक्ता यांति मामपि ॥ २३ ॥

" तदेवाग्निस्तत्सूर्यस्तदुचंद्रमाः " इत्यादि श्रुतिनके अर्थको खुलासा करनेवाली जो " यस्यादित्यः शरीरं " इत्यादि श्रुतिनके अर्थरूप इन श्लोकोंकरके अन्य देवतोंको भी भगवान् आपहीके शरीरभूत दिखातेहैं. जैसे कि, जोजो भक्त जिस जिसै इंद्रादिरूप मेरे

शरीरको श्रद्धाकरके अर्चनेको चाहताहै उसउस भक्तको मैं वही अचल श्रद्धा धारणकराताहूं सो भक्त उसी श्रद्धाकरके युक्त उसी इंद्रादिरूप मेरी मूर्तिका आराधन करताहै. और उसीसे मेरे ही करके नियमित कियेभये ये हित कामनोंको प्राप्तहोताहै; परंतु उन अल्पबुद्धिनके वह फल नाशवान् होताहै. जैसे कि, इंद्रादिदेव पूजनेवाले इंद्रादि देवोंको प्राप्तहोतेहैं मेरे भक्त निश्चय मेरेको प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ॥
परंभावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

मेरे अविनाशी सर्वोत्तम परस्वरूपको न जाननेवाले मूर्खलोग जो मैं सबके हृदयमें मूर्तिमान् प्राप्त तिस मेरेको अव्यक्त याने अमुर्त्ति मानतेहैं. तात्पर्य इसीसे अन्यदेवोंको भजते हैं ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ॥
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

यहां न जाननेका कारण कि, योगमायाकरके आच्छादित मैं सबको दीखता नहीं हूं इसीसे यह मूर्ख जन अजन्मा अविनाशी मेरेको नहीं जानताहै ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन ॥
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! मैं जो प्रथमै भये उनको और हैं तिनको और होयंगे उन सर्वभूतप्राणीमात्रोंको जानताहूं, परंतु मेरेको कोई भी नहीं जानताहै ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ॥
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यांति परंतप ॥ २७ ॥

हेभारत ! हेपरंतप ! इच्छा और द्वेषकरके उत्पन्नभये सुख दुःख लाभ अलाभादि द्वंद्वरूप मोहकरके सर्वभूतप्राणि संसारमें मोहको प्राप्त होतेहैं॥

येषां त्वंतगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ॥
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

और जिन पुण्यकर्मवाले मनुष्योंका पाप नाशको प्राप्तभयाहै वे द्वंद्वमोहसे छुटेभये दृढव्रती मेरेको भजते हैं ॥ २८ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतंति ये ॥
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो मेरे आश्रितहोके जरामरण छूटनेके वास्ते यत्नकरतेहैं वे उस ब्रह्मको और सर्व अध्यात्मको सर्व कर्मको जानतेहैं इन ब्रह्मशब्दादिकोंका खुलासा आठवें अध्यायमें होगा ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ॥
प्रयाणकालेपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विज्ञानयोगो
नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

जो मेरेको अधिभूत और अधिदैवसहित और अधियज्ञसहित जानतेहैं वे मनुष्य ही मेरेमें नित्य चित्तलगायेभये मरणकालमें भी मेरेको जानतेहैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचिता-
यां श्रीगीतामृततरंगिण्यांसप्तमोऽध्यायप्रवाहः ॥ ७॥

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ॥

अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

जो सातवें अध्यायमें कहा था कि, जो जरामरणसे मुक्त होनेके वास्ते मेरा आसरा करके यत्न करतेहैं वे उस ब्रह्मको तथा सर्व अध्यात्मको और सर्व कर्मको जानते हैं इत्यादि सुनिके अर्जुन कृष्णसे पूंछते हैं कि, हे पुरुषोत्तम ! जो आपने कहा वह ब्रह्म कौनें है, अध्यात्म कौनहै, कर्म क्याहै और अधिभूत कौनें कहाताहै और अधिदेव कौनें कहाताहै ? ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ॥
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

हे मधुसूदन ! इस देहमें अधियज्ञ कैसेभया और कौन है और इसलोकमें मरणकालमें जिसने मन जीताहै उसकरके कैसे जाननेमें आतेहो ? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ॥
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

ऐसे अर्जुनके वचन सुनिके श्रीकृष्णभगवान् बोले कि, परहै प्रकृति जिससे याने प्रकृतिमुक्त जो अक्षर याने मुक्तजीव सो ब्रह्म है स्वभाव अध्यात्म कहाताहै जो सर्व भूतप्राणिनकी उत्पत्ति करनेवाला विसर्ग याने सृष्टि सो कर्मसंज्ञक है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ॥
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥ ४ ॥

जो क्षर भाव याने नाशवान् देहादिक सो अधिभूतहै और पुरुष जो सूर्यमंडलवर्त्ती मेराही एकरूप सो अधिदैवत है. हे देहधारिनमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इस देहमें अधियज्ञ मैं ही हूं याने जीवका पूज्य मैं हूं ॥ ४ ॥

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ॥
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

और जो पुरुष अंतसमयमें मेरे हीको सुमिरतासुमिरता देहको त्यागिके इसलोकसे जाताहै सो मेरी समताको प्राप्तहोताहै यहां संशय नहीं ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ॥
तंतमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

जो मेरा सदा और अंतकालहीमें स्मरण करतेकरते शरीर त्यागै सो तो मेरेहीको पावै. अथवा जो जो भाव याने वस्तु अथवा कोई प्राणीको सुमिरतासुमिरता सदा उसीमें लवलीन भयाहुआ अंतमें देहको त्यागताहै, सो हे कुंतीपुत्र ! उसी उसीको ही प्राप्तहोताहै ॥६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ॥
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

तिससे सर्व कालमें मेरेको सुमिरो और युद्धकरो; ऐसे मेरेमें मन बुद्धिको लगायेभये मेरे हीको पावोगे, इसमें संदेह नहीं ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ॥
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८ ॥

हे पृथापुत्र ! सदा अभ्यासयोगयुक्त आत्मस्वरूपाविना दूसरेमें नहीं जानेवाला ऐसे चित्तकरके मेरा चिंतवन करताकरता देदीप्यमान अति-उत्तम ऐसा जो परमपुरुष मैं उस मेरेको प्राप्त होताहै ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ॥
सर्वस्य धातारमचिंत्यरूपमादित्यवर्णं तमसः पर-

स्तात् ॥ ९ ॥ प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्यायु
क्तो योगबलेन चैव ॥ भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

जोकोई भक्तिकरके युक्त पुरुष मरणसमयमें अचेल मनकरके और योगबलकरके भौंहोंके मध्यमें निश्चल अच्छीतरहसे प्राणोंको प्रवेशकरके अर्थात् कुंभककरके जो सर्वज्ञ, पुरातन, सर्वका शिक्षक, सूक्ष्मसे सूक्ष्म, सर्वको पालनेवाला, नहीं चिंतवनमें आताहै रूप जिसका, सूर्यसरीखा प्रकाशमान जो पुरुष और प्रकृतिसे परे उसको सुमिरताहै सो उस परे देदीप्यमान पुरुषको प्राप्तहोताहै ॥ ९ ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदंति विशंति यद्यतयो वीतरागाः ॥
यदिच्छंतोब्रह्मचर्यं चरंति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ११

वेदके जाननेवाले जिसको अक्षर कहतेहैं, वीतराग ईश्वरप्राप्तिका यत्न करनेवाले जिसको प्राप्तहोतेहैं; जिसको चाहनेवाले ब्रह्मचर्यको आचरतेहैं, उस पदको तुम्हारेसे संक्षेपकरके कहूंगा ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ॥
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ॥
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

जो योगी देहको त्यागतात्यागता सर्व इंद्रियोंको संयममें करके और हृदयमें मनको रोंकके आपके प्राणोंको मस्तकमें चढायके योगधारणामें थिर भयाहुआ 'ॐ' इस एकअक्षर ब्रह्मका उच्चारण करताकरता मेरेको सुमिरतासुमिरता देहत्यागिके जाताहै सो अतिउत्तम गतिको प्राप्तहोता है ॥ १२ ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ॥
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४॥

हे पृथापुत्र ! जो अनन्यचित्त मेरेको नित्य निरंतर सुमिरताहै उस नित्य मेरे संयोग चाहनेवाले योगीको मैं सुलभ हूं ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ॥
नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

यहांसे अध्यायसमाप्तिपर्यंत ज्ञानी जो कैवल्यार्थी उसकी मुक्ति और ऐश्वर्य चाहनेवालेकी पुनरावृत्ति कहतेहैं सो ऐसे कि, जो मेरी उपासनारूप परमसिद्धिको प्राप्तभयेहैं वे महात्माजन मेरेको प्राप्त होके फिर दुःखका घर नाशमान जन्मको नहीं प्राप्तहोतेहैं ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ॥
मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यंत सर्वलोक, पुनरावर्त्ती है और हे कुंती-पुत्र ! मेरेको प्राप्तहोके फिर जन्म नहीं होताहै ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यंतमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ॥
रात्रिं युगसहस्रांतां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

ब्रह्मलोकपर्यंत पुनरावृत्ति देखनेको ब्रह्माके दिनरात्रिका प्रमाण दिखातेभये उसको जाननेवालोंकी श्रेष्ठता कहतेहैं-जो ब्रह्माका हजार चतुर्युगीपर्यंत दिन और हजार चतुर्युगीपर्यंत रात्रिको जानतेहैं वे मनुष्य दिनरातिके जाननेवाले हैं, याने दीर्घदर्शी हैं ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे ॥
रात्र्यागमे प्रलीयंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

दीर्घदर्शित्व दिखातेहैं सो ऐसे कि, ब्रह्माके दिनके आगममें ब्रह्माके

शरीरसे सर्व जीवोंके शरीर होतेहैं रात्रिके आगममें उसी ब्रह्माके शरीरमें लीनहोतेहैं ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ॥
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे पृथापुत्र ! सोई यह भूतप्राणीसमूह कर्मपरवश भया हुआ सदा है हैं के रात्रिके आगममें लीन होताहै, दिनके आगममें उत्पन्न होताहै ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ॥
यः स सर्वेपु भूतेपु नश्यत्स्वपि न नश्यति ॥ २० ॥

उस ब्रह्माके जडप्रकृतिशरीरसे श्रेष्ठ और जो अव्यक्त सनातन भाव है याने शुद्धचेतन है सो सर्व आकाशादि और शरीर नष्टहोने-से भी नहीं नष्टहोताहै ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ॥
यं प्राप्य न निवर्तंते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

वह अव्यक्त अक्षर ऐसे कहाहै 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' उसको परम गति कहतेहैं जिस शुद्धरूपको प्राप्तहोके नहीं जन्मतेहैं वह मेरा सर्वोत्तम धाम है; याने जैसे प्रकृतिभी मेरा शरीर है और जीवभी मेरा शरीर है परंतु जैसे सर्व घर किसी पुरुषका है उसमें निजमंदिर श्रेष्ठहो-ताहै तैसे जीवप्रकृतिमें और मैं जीवमें रहताहूं इससे वह मेरा मुख्य-शरीर है. यह कैवल्यमुक्ति कही, अब ऐश्वर्य प्राप्ति कहतेहैं ॥ २१ ॥

पुरुपः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ॥
यस्यांतःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

हे पृथापुत्र ! ये सर्व भूतप्राणि जिसके अंतरस्थ हैं और यह सर्व

जगत् जिसकरके विस्तारितहै सो पर पुरुष याने परमात्मा अनन्य-
भक्ति करके प्राप्तहोने योग्यहै ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ॥
प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

हे पुरुषनमें श्रेष्ठ ! जिस कालमें देहत्यागिके गयेभये योगी अना-
वृत्तिको और आवृत्तिको जातेहैं उस कालको मैं कहताहूं ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ॥
तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

जिसकालमें अग्नि प्रकाशक है तथा दिन शुक्लपक्षहै ऐसे छ महीने
उत्तरायण उसमें गये भये ब्रह्मज्ञानी जन ब्रह्मको प्राप्तहोतेहैं ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ॥
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

जिसकालमें धूम राति तथा कृष्णपक्ष छःमहीने दक्षिणायन
इसमें गयाभया योगी चांद्रमस ज्योतिको याने स्वर्गपायके यज्ञादि
फलभोगिके फिर यहाँ जन्मलेताहै ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ॥
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

ये शुक्लकृष्ण मार्ग जगतके सनातन नियमितहैं एककरके
मुक्तिको जाताहै दूसरेकरके फिर जन्मता है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

हे पृथापुत्र ! इन मार्गोंको जानताभया कोईभी योगी नहीं मोह-
ताहै. हे अर्जुन ! तिससे सर्व कालमें योगयुक्त हो ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं
प्रदिष्टम् ॥ अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगोनाम
अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

मनुष्य इसको जानिके फिर जो पुण्यफल वेदाध्ययनमें, यज्ञमें, तपमें और दानमें कहा है उस सबको अतिक्रमणकरताहै याने उससेभी अधिकफल पाताहै, फिर योगी होके सर्वोत्तम आदि स्थानको पाताहै, याने मुक्तहोताहै ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां
श्रीगीतामृततरंगिण्यामष्टमोऽध्यायप्रवाहः ॥ ८ ॥

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ॥
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

सप्तम और अष्टम अध्यायोंमें आपकी स्वरूपप्राप्ति भक्तिहीसे कही है. अब नवममें आपका सर्वोत्तम प्रभाव और भक्तिका भी प्रभाव कहतेहैं सो ऐसे कि, हे अर्जुन ! यह अतिगुप्तकरनेयोग्य विज्ञानसहित ज्ञानको, असूया जो पराये गुणमें दोष लगाना उसकरके रहित जो तुम तिनसे कहूंगा ॥ जिसको जानिके संसारदुःखसे छूटोगे ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ॥
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह भक्ति ज्ञान विद्या और गोप्यवस्तुनमें सर्वोत्तम पवित्र अति उत्तम

प्रत्यक्षफलरूप धर्मयुक्त करनेकोभी अतिसुगम और अविनाशी है॥२॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ॥
अप्राप्य मां निवर्तंते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परंतप अर्जुन ! इसे धर्मसंबंधी श्रद्धाको न धारणकरनेवाले पुरुष मेरेको प्राप्तभयेविना मृत्युरूपसंसारमार्गमें फिरतेरहतेहैं ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ॥
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

यह सर्व जगत् अतिसूक्ष्म अंतर्यामीरूप मेरे करके व्याप्तहै; इससे सर्वभूतप्राणी मेरे स्वाधीनहैं और मैं उनमें नहीं स्थितहूं याने उनके स्वाधीन नहींहूं और वे भूतप्राणी मेरेमें स्थित नहीं है याने जैसे घडेमें जल तैसे नहीं हैं मेरे ईश्वरसंबंधी इस योगको देखो भूतोंका भरने पोषनेवाला भी मेरा आत्मा याने मेरा शरीरभूत जीवात्मा भूतोंको धारणकरनेवाला और भूतोंमें स्थित नहीं है॥४॥५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ॥
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

जैसे महान् वायु नित्यही आकाशमें रहाभया मेरे आधारसे सर्वत्र विचरताहै तैसेही सर्व भूत मेरे आधार हैं ऐसे निश्चयकरो ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिं यांति मामिकाम् ॥
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे कुंतीपुत्र ! प्रलयकालमें सर्वभूतप्राणी मेरी प्रकृतिमें लीन होतेहैं कल्पकी आदिमें मैं उनको फिर अनेक प्रकारके उत्पन्न करताहूं ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ॥
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी प्रकृतिको आश्रयदेके प्राचीनस्वभावके वशसे परवश संपूर्ण इस भूतप्राणीसमूहको वारंवार सृजता हूं ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नंति धनंजय ॥
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हेअर्जुन ! जो कहोगे कि, ऐसे विषमसृष्टि सृजनेवालेको विषमताके वैषम्य निर्दयत्वदोष क्यों न लगेंगे तहाँ सुनो, जो मैं सृष्ट्यादिककर्म करताहूं उन कर्मोंमें असक्त और उदासीनसरीखा स्थित ऐसे मेरेको वे कर्म नहीं बंधनकरतेहैं ॥ ९ ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ॥
हेतुनानेन कौंतेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥ १० ॥

हे कुंतीपुत्र ! जब मैं अध्यक्ष याने सर्वकृत्यका सम्हारनेवाला होता हूं तब मेरे करके प्रकृति चराचरजगत्को उत्पन्नकरती है इस कारण करके जगत् उत्पन्नहोताहै ॥ १० ॥

अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ॥
परंभावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशामोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ॥
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

जो राक्षसी और आसुरी आपसरीखी मोहकारक प्रकृतिको धारण करतेहैं याने ऐसे स्वभाववाले, निष्फल आशावाले, निष्फल कर्मवाले, निष्फलज्ञानवाले वे भ्रष्टचित्त पुरुष, जो सर्व भूतोंके

ईश्वरोंका भी ईश्वर ऐसे मेरे प्रभावको न जानतेभये मूर्ख अति-करुणासे मनुष्यरूप शरीरमें स्थित मेरी अवज्ञा करतेहैं ॥ ११॥१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ॥
भजंत्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

हे पृथापुत्र ! दैवी प्रकृतिको प्राप्तभयेहुये महात्माजन मेरेको सर्वभूतोंका आदि और अविनाशी जानिके अनन्यमनवाले भयेहुए मेरेही को भजतेहैं ॥ १३ ॥

सततं कीर्त्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः ॥
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

अब महात्मनके भजनकी रीति कहतेहैं जैसे कि, निरंतर मेरा कीर्त्तनकरतेभये और दृढसंकल्पकियेभये मेरी प्राप्तिके वास्ते यत्नकरतेभये और भक्तिकरके मेरेको नमस्कार करतेभये नित्य मेरे समागमकी इच्छा करनेवाले मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतोमामुपासते ॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

और कितनेक महात्मा एकत्वकरके याने सख्यभावसे और कितनेक पृथक्त्वसे याने दास्यभावसे ऐसे बहुधा याने कोई वात्सल्य और कोई शृंगार इत्यादि भावनाकरके सर्वतोमुख याने सर्वव्यापी मेरेको इत्यादि ज्ञानयज्ञकरके पूजतेभये उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ॥
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

अब आपका सर्वव्यापित्व दिखातेहैं सो ऐसे कि; भगवान् कह-तेहैं कि, क्रतु याने अग्निष्टोमादिक श्रौतयज्ञ मैं हौं, यज्ञ जो स्मार्त पंचमहायज्ञ सो मैं हौं स्वधा जो पितृनके श्राद्धादिकर्म सो मैं हौं

औषध याने अन्न सो मैं हों, मंत्र मैं हों, आज्य याने घृत सो मैं हों, अग्नि मैं हों, होम मैं हों यह निश्चय है ॥ १६ ॥

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुःसाक्षी निवासःशरणं सुहृत् ॥
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

इसे जगत्का पिता, माता, धाता पितामह जो जाननेयोग्य सो और पवित्रहै सो और ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद इस जगत्की गति, पालनकर्त्ता, स्वामी, शुभाशुभकर्मनका साक्षी, रहनेका स्थान इच्छितवस्तु देनेवाला और अनिष्टका निवारक सुहृद उत्पत्ति और नाशका स्थान धारणकरनेवाला अविनाशी उत्पत्तिकारण सर्व मैं ही हों ॥ १७ ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ॥
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! अग्नि और सूर्यरूप होके मैं ही तपाताहों, मैं ही ग्रीष्मादिऋतुनमें वर्षाको बंदकरताहों और वर्षाऋतुमें वर्षाताहों, अमृत और मृत्यु और सत् और असत् मैं निश्चय हों ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं
प्रार्थयंते ॥ ते पुण्यमासाद्य सुरेंद्रलोकमश्नंति
दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥ ते तं भुक्त्वा स्वर्-
गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति ॥
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा
लभंते ॥ २१ ॥

इसतरहसे महात्मा ज्ञानिनका व्यवहार और आपका वैभव कहा अब सकाम जनोंकी रहनि रीति कहतेहैं; जैसे कि, त्रैविद्या याने ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदोक्त इंद्रादिदेवनिमित्त यज्ञ करनेवाले सोमपाने कियेभये पापरहित यज्ञोंकरके इंद्रादिरूप मेरेको आराधिके स्वर्गकी प्राप्ति मानते हैं वे पुण्यरूप इंद्रलोकमें प्राप्तहोके वहां स्वर्गमें दिव्य देवभोगोंको भोगते हैं. फिर वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगिके पुण्य क्षीण होनेसे इस मनुष्यलोकमें प्राप्तहोते हैं, ऐसे वेदत्रयीधर्मको केवल वारंवार करतेभये सकामीजन गतागत याने स्वर्गजाना मनुष्यलोकको आना फिर जाना फिर आना ऐसे फलको पाते हैं ॥ २० ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ॥
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

जो मनुष्य अनन्यभयेहुये मेरा चिंतवन करते करते मेरेको भजते हैं उन नित्य मेरे संयोग चाहने वालोंका योग जो धनादिककी और मेरी प्राप्ति क्षेम जो धनादि संरक्षण और अपुनरावृत्ति इनको मैं प्राप्तकरताहौं ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ॥
तेपि मामेव कौंतेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

जोकि और देवतोंके भक्त उनका श्रद्धायुक्त पूजन करतेहैं वेभी मेराही पूजन करतेहैं; परंतु हे कुंतीपुत्र ! वे अविधिपूर्वक पूजन करतेहैं याने विधिपूर्वक नहीं ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥
न तु मामभिजानंति तत्त्वेनातश्च्यवंति ते ॥ २४ ॥

मैं निश्चय करके सर्वयज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी हौं परंतु

वे सकामिक जन मेरेको ऐसे निश्चयकरके नहीं जानतेहैं इससे जन्म मरणेको प्राप्त होतेहैं ॥ २४ ॥

यांति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः ॥
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम् २५

अहो जो कहोगे कि, एकही कर्ममें संकल्पमात्रसे कैसे भेद भया तहां सुनो जो इंद्रादिदेवनको भक्तिपूर्वक आराधते हैं तो उनहीको प्राप्त होतेहैं, पितृभक्त पितृनको प्राप्त होतेहैं; जो कोईसे भी राजा साधू चोर इत्यादि भूत प्राणिकी सेवा संगतिकरतेहैं वे उनहीकी समताको प्राप्त होतेहैं; जो मेरी भक्तिकरतेहैं वे निश्चय मेरेको प्राप्त होते हैं याने मेरी समताको पाते हैं ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ॥
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

जो कहोगे कि, बडेनके प्रसन्न करनेको बडे उपाय चाहिये तहां सुनो जो कोई पत्र, पुष्प, फल, जल मेरेको भक्तिकरके युक्त अर्पण करताहै मैं उस शुद्धचित्तभक्तका भक्तिपूर्वक अर्पणकियेभये उस पत्रादिकें पदार्थको स्वीकार करताहों ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ॥
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः ॥
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

हे कुंतीपुत्र ! मेरेको ऐसा सुलभ जानिके जो कुछभी तुमकरो, जो खाउ, जो होमो, जो देउ, जो तपकरो उसको मेरे अर्पण किये भये करो; ऐसे करतेभये जो कर्म बंधनकारक हैं उन शुभाशुभ फल कर्मोकरके छुटोगे. ऐसेही इस कर्मफलअर्पण संन्यासयोगयुक्त चित्तवाले तुम मुक्त भये हुये मेरेको प्राप्तहोवोगे ॥ २७ ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥
ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् २९

मैं सर्वभूतोंपर सम हों मेरे न अप्रिय न कोई प्रिय है. परंतु जो मेरेको भक्तिकरके भजतेहैं वे मेरे हृदयमें और उनके हृदयमें निश्चयकरके मैं रहताहौं ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ॥
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति ॥
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

जो कदाचित् कोई पुरुष अतिदुराचारी भी होई और वह मेरेको अनन्यभाक् याने औरको न भाग देताभया सर्वत्र मेरेहीको जानिके सर्व मेरे अर्पण करताभया भजताहोय सो साधूही है ऐसे माननो चाहिये, जिससे कि वह सम्यक् निश्चय कियेहै उससे वह शीघ्रही धर्मात्मा होयगा और मोक्षहीको प्राप्तहोयगा. हे कुंतीपुत्र ! तुम यह निश्चय जानो कि, मेरा भक्त नहीं नाशको पावताहै याने मुक्तही होताहै ॥ ३० ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ॥ स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यांति परां गतिम् ॥ किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ॥ अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

हे पृथापुत्र ! निश्चयपूर्वक मेरेको आश्रय करके जो पापयोनी भी होय तथा स्त्री शूद्र वैश्य वे भी उत्तम मोक्षको जातेहैं. जो पवित्र

ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भक्तहैं उनकी मोक्षको फिर क्या शंकाहै ? इससे अनित्य दुःखरूप इस लोकको पाइके मेरेको भजो ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

भजनरीति यह कि, मेरेहीमें मनको युक्त कियेभये रहो मेरेही भक्त मेराही पूजन करनेवाले होउ, मेरेहीको नमस्कार करो; ऐसे मनको मेरेमें युक्तकरके मेरेही परायण भयेहुये मेरेहीको प्राप्तहोवोगे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीगीतामृततरंगिण्यां नवमोऽध्यायप्रवाहः ॥ ९ ॥

सप्तमादिक तीनों अध्यायोंमें श्रीकृष्णजीने आपका भगवत्तत्त्व और विभूति वर्णन की. जैसे कि, सप्तममें " रसोहमप्सु कौंतेय " इत्यादि, अष्टममें " अधियज्ञोऽहमेवात्र " इत्यादि, नवममें " अहं क्रतुः " इत्यादिकरके संक्षेपसे कहीं. उनको और भक्तिकी आवश्यकता अब दशमाध्यायमें विस्तारसे कहते हैं ॥

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ॥
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्रीकृष्णभगवान् कहतेभये कि, हे महाबाहो मेरा सर्वोत्तम वाक्य फिर भी सुनो; जो वाक्य प्रीतियुक्त जो तुम तिन तुमसे तुम्हारे हितके वास्ते मैं कहताहौं ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ॥
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

मेरा जन्मभया ऐसा न देवता न महर्षी जानते हैं; कारण कि, मैं देवनका और सर्व महार्षिनकाभी आदि हों ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ॥
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो मेरेको अजन्मा और अनादि लोकमहेश्वर जानता है सो मनुष्योंमें ज्ञानी है और सर्वपापोंकेरके छुटाहै ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ॥
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ॥
भवंति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धि, ज्ञान, अव्याकुलता, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, नाश, भय और अभयभी और अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अयश ये न्यारे न्यारे भूतोंके भाव मेरेहीसे होते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ॥
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

सात महाऋषी याने मरीचि वसिष्ठादिक महाऋषि चार इनके भी पूर्वज याने सनकादिक ऋषि तथा चौदह मनु मेरे संकल्पज मन इच्छा प्रमाण उत्पन्नहोतेभये जिनके लोकमें ये प्रजा हैं ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ॥
सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो पुरुष मेरी महर्षी इत्यादिकोंकी उत्पत्तिरूप इस विभूतिको

और कल्याणगुणादिरूप योगको तत्त्वसे जानताहै सो अचल भक्तियो-
गकरके युक्तहोताहै इसमें संशय नहींहै ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥
इति मत्वा भजंते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं सर्वका उत्पत्तिस्थान हों मेरेसे सर्व प्रवर्त्तहोताहै ऐसा मेरेको
मानिके भावसंयुक्त ज्ञानीजन मेरेको भजतेहैं ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयंतः परस्परम् ॥
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च ॥ ९ ॥

उनका भजन प्रकार यह कि, मेरेहीमें जिनका चित्त है श्वासो-
च्छ्वासपर मेरा स्मरण करते रहते हैं. परस्पर एक दूसरेको उपदेश
करतेभये निश्चयपूर्वक मेरेको याने मेरेही गुणगणनको कहते
कहते निरंतर संतुष्ट होतेहैं और मेरी करीभई क्रीडा करने
लगतेहैं ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥ १० ॥

ऐसे वे निरंतर मेरे संगी मेरेको प्रीतिपूर्वक भजनेवाले तिनको उसे
बुद्धियोगको देताहों कि, जिसकरके वे मेरेको प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः ॥
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

उनहीकी दयाके वास्ते उनकी मनोवृत्तिमें रहाभया मैं प्रकाशित
ज्ञानरूप दीपकरके उनके अज्ञानजन्य तिमिरका नाशकरताहों ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ॥
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ॥
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

ऐसे श्रीकृष्णजीके वाक्य सुनिके अर्जुन बोले कि, आप परब्रह्म हो श्रेष्ठप्रभाव हो परम पवित्र हो; सर्व ऋषिजन आपको अविनाशी दिव्य पुरुष आदिदेव अजन्म व्यापक ऐसे कहतेहैं, वे ये जैसे कि, देवऋषि नारद तथा असित देवल व्यास और आप भी मेरेसे कहतेहो ॥ १२ ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ॥
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव! जो मेरेसे कहतेहो यह सर्व सत्य मानताहौं, कारण कि, हे भगवन्! तुम्हारी उत्पत्तिको न देवता जानतेहैं न दानव जानतेहैं ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ॥
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगत्पते! आप आपको आपहीकी बुद्धिसे आपही जानतेहो ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ॥
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥१६॥

जो दिव्य आपकी विभूती हैं उनको समग्रतासे कहनेको योग्य हो कारण कि, जिन विभूतिनकरके इन लोकोंमें आप व्यापिके रहेहो ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगी त्वांसदापरिचिंतयन् ॥
केषु केषु च भावेषु चिंत्योसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

में भक्तियोगयुक्तभयाहुआ आपको सदा ध्यावताभया कैसे जानों. और हे भगवन् ! आप मेरेकरके कौनें कौनेंसे रूपोंमें ध्यावनयोग्य हो ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ॥
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

हे जनार्दन ! आपकी प्राप्ति उपाय और विभूति याने वैभव सो विस्तारसे फिर कहो. याने संक्षेप कहा अब विस्तार कहो क्योंकि, इस अमृतरूप माहात्म्यको सुनते सुनते मेरे तृप्ति नहीं होतीहै ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ॥
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

ऐसे सुनिके भगवान् बोले कि, हंत याने हे अर्जुन ! तुम्हारेसे दिव्य जो विभूतिनको प्रधानतासे याने मुख्य मुख्य कहौंगा क्योंकि, हे कुरुश्रेष्ठ ! मेरे विस्तारको अंत नहीं है ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥ २० ॥

हे गुडाकेश ! सर्वभूतोंके अंतःकरणमें रहाभया मैं सर्वभूतोंका अंतर्यामी हौं और मैंही आदि और मध्य और अंतभी हौं, अब यहांसे में मैं कहते जायंगे यहां ऐसा अर्थ करना कि, जैसे आदित्यनमें विष्णुनाम आदित्य मैं हौं ऐसे कहनेसे यह भया कि, विष्णु आदित्य मेरी श्रेष्ठ विभूति है याने उसमें मेरी शक्ति जादा है ऐसाही जहां मैंही हौं शब्द आवै तहां समझना विशेष गीतावाक्यार्थबोधिनी टीकामें मैंने लिखाहै वहां श्रुतिस्मृतिनका भी प्रमाण दियाहै सो देखलेना ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ॥
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

द्वादश आदित्यनमें विष्णुनाम आदित्य मैं हौं, ज्योतिनमें किरणवंत सूर्य उनचास मरुतनमें मरीचिमरुत् नक्षत्रोंमें चंद्रमा मैं हौं ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ॥
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वेदनमें सामवेद हौं, देवनमें इंद्र हौं और इंद्रियोंमें मन हौं भूतप्राणिनमें चेतना हौं ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ॥
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

रुद्रनमें शंकर हौं और यक्षराक्षसोंमें कुबेर, और अष्टवसुनमें अग्नि शिखरवालोंमें मेरुपर्वत मैं हौं ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ॥
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

हे पृथापुत्र! पुरोहितनमें मुख्य बृहस्पति मेरेहीको जानो और सेनापतिनमें कार्त्तिकस्वामी, सरोवरनमें समुद्र मैं ही हौं ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ॥
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

महर्षिनमें भृगु, वाक्यनमें एक अक्षर याने "ओम्" मैं हौं यज्ञनमें जपयज्ञ, स्थावरोंमें हिमाचल हौं ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ॥
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

सर्ववृक्षनमें पीपर और देवर्षिनमें नारद, गंधर्वनमें चित्ररथ सिद्धनमें कपिलमुनि हों ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ॥
ऐरावतं गजेंद्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

घोडोंमें अमृतसे उत्पन्न उच्चैःश्रवाको, हाथिनमें ऐरावतको और मनुष्योंमें राजा मेरेहीको जानो ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ॥
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

आयुधनमें वज्र, धेनुनमें कामधेनु मैं हों उत्पत्तिकारक कामदेव हों और एकशिरवाले सर्पनमें वासुकीसर्प मैं हों ॥ २८ ॥

अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ॥
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

और अनेक शिरवाले सर्पोंमें शेषजी मैं हों; जलजीवनमें मैं वरुण हों पितृनमें अर्यमा और शासनकरनेवालोंमें मैं यम हों ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ॥
मृगाणां च मृगेंद्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

दैत्यनमें प्रह्लाद हों और अनर्थकारककी गनतीकारकोंमें मैं काल हों और मृगोंमें मैं हों और पक्षिनमें गरुड हों ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ॥
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

पवित्रकारकोंमें पवन हों शस्त्रधारीनमें राम साक्षात् मैं हों, यहां शस्त्रधारणमात्र विभूति है मच्छनमें मकर हों और प्रवाहवालोंमें श्रीभागीरथी हों ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरंतश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ॥
अध्यात्मविद्याविद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

सर्ग जो ब्रह्माके दिवस उनमें आदि उत्पत्तिकारक और अंत प्रलयकारक और मध्य याने रक्षक मैं ही हौं. हे अर्जुन ! सर्वविद्यांनमें अध्यात्मविद्या वादकरनेवालोंमें वाद याने सिद्धांत मैं हौं ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ॥
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अक्षरोंमें अकार हौं समासनमें द्वंद्वसमास और अक्षय काल मैं चौतरफ मुंख जिसके ऐसा सर्वनका भरनेपोषनेवाला मैं ही हौं॥३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ॥
कीर्तिःश्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिःक्षमा॥३४॥

सर्वका हरनेवाला मृत्यु मैं और आपकी बढती चाहनेवालोंमें उद्भव याने बढती मैं हौं; स्त्रीजनोंमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हौं ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ॥
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

तैसे सामवेदके मंत्रोंमें बृहत्साम, छंदोंमें गायत्रीमंत्र मैं हौं महीनोंमें मार्गशीर्ष ऋतुनमें वसंत मैं हौं ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥
जयोस्मि व्यवसायोस्मि सत्वं सत्ववतामहम् ॥३६॥

छलकारिनमें जुवा तेजस्विनमें तेज मैं हौं, जीतनेवालोंमें जय हौं, निश्चयवालोंमें निश्चय, हौं उदारनमें उदारता मैं हौं ॥ ३६॥

वृष्णीनांवासुदेवोस्मि पांडवानां धनंजयः ॥

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

वृष्णिवंशिनमें वासुदेव यहां वसुदेवपुत्रत्व मात्र विभूति जानना पांडवनमें अर्जुन तुम हो सो श्रेष्ठ विभूति हो इससे तुमभी मैं हौं, मुनिनमें व्यासजी मैं हौं, कवि जो शास्त्रदर्शी उनमें शुक्राचार्य कवि मैं हौं ॥ ३७ ॥

दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ॥
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

स्ववशकर्तनमें दंड हौं, जय चाहनेवालोंमें नीति हौं, गुप्तकरनेके उपायोंमें मौन हौं, ज्ञानिनमें मैं ज्ञान हौं ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ॥
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

हे अर्जुन! सर्वभूतोंका जो आदिकारण है सो मैं हौं; जो चराचर भूत मेरे विना होय सो नहीं है ॥ ३९ ॥

नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ॥
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतिनका अंत नहीं है परंतु यह विभूतिका विस्तार मैंने संकेतमात्रसे कहाहै ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ॥
तत्तदेवाऽवगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥ ४१ ॥

जो जो प्राणी ऐश्वर्यवान्, शोभायमान अथवा बडा होय सोसो मेरे तेजके अंशयुक्त है ऐसे तुम जानो ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ॥
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

हे अर्जुन! अथवा इस बहुत जानकरके तुम्हारे क्या प्रयोजन है मैं इस सर्व जगत्को एक अंशकरके धारण कियेभयेस्थित हौं ॥४२॥

इति श्रीमत्सुकलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीगीतामृततरंगिण्यां दशमोऽध्यायप्रवाहः ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ॥
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

जब भगवान्ने आपकी विभूति कही और उसमें आपका स्वरूप वर्णन किया तब सुनिके अर्जुन देखनेकी इच्छा करके बोले कि, हे भगवन्! मेरे अनुग्रहके वास्ते सर्वोत्तम गोप्य अध्यात्मसंज्ञित याने आत्मज्ञानविषयक जो वचन आपने कहा उसकरके मेरा यह मोह गया ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ॥
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

कारण कि, हे कमलदलनयन! भूतप्राणिनके उत्पत्ति, प्रलय आपसे मैंने विस्तारपूर्वक सुने और आपका अक्षयमाहात्म्य भी सुना॥२॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ॥
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर! तुम आपको जैसे कहतेहो यह ऐसाही है हे पुरुषोत्तम! तुम्हारे ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, इन छहों ऐश्वर्ययुक्त रूपको देखनेको चाहताहौं ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ॥
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

हे प्रभो! जो वहरूप मेरेकरके देखनेको योग्य है ऐसा मानते हो हे योगेश्वर! तो तुम अविनाशी आपके रूपको मेरेको दिखावो॥४॥

श्रीभगवानुवाच ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

ऐसे वचन सुनिके भगवान् बोले कि, हे पृथापुत्र! सैकडों फिरि हजारों अनेकप्रकारके दिव्य और अनेकवर्ण आकारके मेरे रूपोंको देखो ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ॥
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ॥
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे भारत! मेरी देहमें द्वादशसूर्य अष्टवसु ११ रुद्र अश्विनीकुमार ४९ मरुत् देखो तथा जो प्रथमें न देखे ऐसे बहुत आश्चर्य देखो हे गुडाकेश! इस मेरे देहमें सचराचर सर्व जगत् एकही ठिकाने इकट्ठेको आज देखो और जो और भी देखनेको चाहतेहो उसे भी देखो ॥ ६ ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ॥
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

इस आपकी दृष्टिकरके मेरेको देखनेको न समर्थ होवेंगे इससे तुमको दिव्य नेत्र देताहों तिसकरके मेरे ईश्वरसंबंधी योगको देखो ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ॥
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहतेभये कि, हे राजन् ! महायोगेश्वर श्रीकृष्ण ऐसे कहिके फिर सर्वोत्तम ईश्वरसंबंधी रूप अर्जुनको दिखाते भये ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ॥
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

जिसरूपमें अनेक मुख और नेत्र हैं और अनेक अद्भुत दर्शन हैं अनेक दिव्य आभूषणयुक्त है और दिव्य अनेक उगाये हैं आयुध जिसमें ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ॥
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिव्य माला और वस्त्रधारणकियेहैं दिव्य चंदनादि गंधका लेपन किये हैं सर्व आश्चर्यमय प्रकाशमान् अंतरहित और सब ओर जिसमें मुख हैं ऐसा रूप अर्जुनको दिखातेभये ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ॥
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

जो आकाशमें हजारों सूर्यनका एक समयमें उत्पन्नभयाहुआ तेज होय सो तेज उन महात्मा भगवानके तेजके समान होय ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ॥
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥ १३ ॥

उस देवनकेभी प्रकाशक कृष्णके शरीरमें उस समयमें अनेक

शरीरका न्यारा न्यारा एकही ठेकाने इकट्ठा ऐसे सर्व जगत्को अर्जुन देखतेभये ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ॥
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

तब विस्मय करके व्याप्त रोमांचयुक्त वह अर्जुन कृष्णको मस्तकसे प्रणामकरके हाथ जोरेभये बोले ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतवि-
शेषसंघान् ॥ ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषीं-
श्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अर्जुन कहते हैं कि, हे देव ! तुम्हारे शरीरमें देवनको तथा सर्व भूतप्राणिनके समूहोंको तथा ब्रह्माको और कमलासन जो ब्रह्मा उनमें स्थित जो ईश्वर यांने आपही तिनको और सर्व ऋषिनको और दिव्य सर्पनको देखताहौं ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंत-
रूपम् ॥ नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि
विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! तुमको सर्व ओरसे अनेक भुजा उदर मुख और नेत्रवाले अनंतरूप देखताहौं तुम्हारा न अंत न मध्य न फिर आदि देखताहौं ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो
दीप्तिमंतम् ॥ पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

तुमको किरीटवान् गदावान् चक्रवान् और तेजकी राशि सब ओरसे प्रकाशवान् सब ओरसे दुर्निरीक्ष्य प्रदीप्त अग्नि और सूर्यनकी कांतिसरीखी कांतिमान् और अपरिमितरूप देखताहों ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ॥ त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

जो मुमुक्षु जनोंकरके जानने योग्य सर्वोत्तम विष्णु आप हो इस विश्वके श्रेष्ठ आधार आप हो सनातनधर्मके रक्षक अविनाशी आप हो सनातन पुरुष आप हो यह मैंने जाना है ॥ १८ ॥

अनादिमध्यांतमनंतवीर्यमनंतबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ॥ पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपंतम् ॥ १९ ॥

नहीं है आदि, मध्य और अंत जिनके अनंत है पराक्रम जिनका अनंत हैं भुजा जिनके चंद्र सूर्य हैं नेत्र जिनके प्रदीप्त अग्निसदृश मुख जिनके जो आपके तेजकरके इस विश्वको तपायमान कररहेहो ऐसे तुमको देखताहों ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ॥ दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

हे महाशरीर ! द्यावापृथिवीका यह अंतर याने इस ब्रह्मांडका पोल आप एक करके व्याप्त है और सर्व दिशा व्याप्त हैं अर्थात् ऊंचाई करके ब्रह्मांड पोल और चौडाई करके सर्व दिशा पूरगई हैं ऐसे

आपके इस अद्भुत उग्र रूपको देखिके तीनों लोक यानें तीनों लोकोंके निवासी देव मनुष्यादिक व्याकुल हैं ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशंति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणंति ॥ स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

ये देवतनके समूह आपके समीपमें प्राप्तभयेहैं कितनेक भयभीत हाथ जोरेभये तुम्हारे गुण नाम उच्चारण करतेहैं महर्षी और सिद्धनके समूह स्वस्ति ऐसे कहिके तुम्हारी अनेक प्रकारकी स्तुतिन करके स्तुति करतेहैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ॥ गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

एकादश रुद्र द्वादश आदित्य अष्ट वसु और जो साध्य नामक उपदेव तेरह विश्वेदेव दो अश्विनीकुमार उंचास मरुत् और पितर और गंधर्व यक्ष देवता और सिद्ध इनके समूह ये सर्व विस्मित भये हुए तुमको ही देखिरहेहैं ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ॥ बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! बहुत हैं मुख और नेत्र जिसमें तथा बहुत हैं भुजा जांघें और चरण जिसमें बहुत हैं उदर जिसमें बहुत दाढों करके

विकराल ऐसे तुम्हारे महत् रूपको देखिके लोक व्याकुल हैं तैसेही मैं भी व्याकुल हूं ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ॥ दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥ दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ॥ दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥ अमी च त्वां ("दृष्ट्वा दिशो न जानंति शर्म न लभंते इति पूर्वेण पंचविंशतितमेन पद्येनान्वयः") धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ॥ भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ ॥ २६ ॥ वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ॥ केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु संदृश्यंते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥

हे विष्णो ! नभ जो प्रकृतिसे परे परम आकाश वैकुंठ तहांपर्यंत है स्पर्श जिनेका जो प्रकाशमान अनेक वर्णयुक्त रूप तथा मुख फैलाये प्रदीप्त और विशाल नेत्र ऐसे आपको देखिके जिससे कि, मैं व्याकुलचित्त भयाहुआ धीरजको और शांतिको नहीं प्राप्त होताहूं और दाढें कराल जिनमें और कालानलके तुल्य हैं ऐसे तुम्हारे मुखोंको देखि के ही दिशाओंको नहीं जानताहूं और सुखको भी नहीं प्राप्तहोताहूं और राजोंके समूहोंकरके सहित सर्व धृतराष्ट्रके पुत्र तथा भीष्म द्रोण यह कर्ण और हमारे जोधनमें मुख्य जो हैं

तिनकरके सहित तुमको ("देखिके दिशाओंको नहीं जानते हैं और सुखको नहीं प्राप्तहोते हैं ऐसे प्रथमके पच्चीसवें श्लोककरके अन्वय है") । ये सर्व अतिवेगको प्राप्तभये डाढें हैं कराल जिनमें ऐसे भयानक आपके मुखोंमें प्रवेश करते हैं कितनेक चूर्णितभयेहुये मस्तकोंकरके सहित तुम्हारे दांतोंकी संधिनमें पटकेभये दीखते हैं इससे हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप कृपा करो याने हम सब डरते हैं इससे आप प्रथमसरीखे सौम्यरूपको धारणकरो॥२४॥२५॥२६॥२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवंति ॥ तथा तवामी नरलोकवीरा विशंति वक्राण्यभितो ज्वलंति ॥ २८ ॥

जैसे नदिनके बहुतसे पानीके वेग समुद्रहीके संमुख धावते हैं तैसे ये नरलोकवीर तुम्हारे सब ओर प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश करतेहैं ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशंति नाशाय समृद्धवेगाः ॥ तथैव नाशाय विशंति लोकास्तवापि वक्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जैसे अतिवेगवंत पतंग आपके नाशके वास्ते प्रदीप्त अग्निमें प्रवेश करतेहैं तैसेही अतिवेगवंत ये लोग भी अपने विनाशके वास्ते तुम्हारे मुखोंमें प्रवेश करते हैं ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समंताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ॥ तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥ ३० ॥

हे विष्णो ! प्रज्वलित अपने मुखोंकरके सर्व लोगोंको सब ओरसे घेरतेभये चाटेजातेहो याने खायेजातेहो तुम्हारे उग्र प्रकाश

सर्व जगत्को अपने तेजकरिके परिपूरितं करिके तपरहेहैं ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते
देववर प्रसीद ॥ विज्ञातुमिच्छामि भवंतमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

हे देववर ! ऐसे उग्ररूप आप कौन हो सो मेरेसे कहो क्योंकि, तुम्हारी प्रवृत्तिको मैं नहीं जानताहूं जो आप आदिहो उनको जाननेकी इच्छा करताहूं आप कृपाकरो तुम्हारेको नमस्कार होउ ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाह-
र्तुमिह प्रवृत्तः ॥ ऋतेऽपि त्वां न भविष्यंति स-
र्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

ऐसे सुनिके श्रीकृष्ण भगवान् बोले कि, मैं इन लोगोंके क्षयके वास्ते बढाभया काल हूं यहां इन लोगोंका संहार करनेके वास्ते प्रवर्त भयाहूं जो ये जोधा तुम्हारी शत्रुसेनाओंमें खडेहैं ये सर्व तुम्हारे विना निश्चयपूर्वक न रहेंगे ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुं-
क्ष्व राज्यं समृद्धम् ॥ मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

हे सव्यसाचिन् ! हे अर्जुन ! जिससे कि ये मरेहींगे तिससे तुम उठो यश लेउ शत्रुनको जीतिके समृद्ध राज्यको भोगो प्रथमही ये सब मैंने मारराखेहैं तुम तो निमित्तमात्र होउ ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि

योधवीरान् ॥ मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोण और भीष्म और जयद्रथ और कर्ण तथा औरभी शूरवीर इनको मेरे मारेभयेनको तुम मारो, मति दुःखित होउ रणमें शत्रूनको जीतोगे युद्धकरो ॥ ३४ ॥

संजय उवाच ।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः
किरीटी ॥ नमस्कृत्वा भूयएवाह कृष्णं सगद्गदं
भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहतेहैं कि, किरीटी जो अर्जुन सो श्रीकृष्णके इतने वचन सुनिके कांपते कांपते हाथ जोड़ेभये नमस्कार करके फिरभी भयभीत प्रणाम करके गद्गदकंठयुक्त श्रीकृष्णसे बोलतेभये ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनु-
रज्यते च ॥ रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवंति स-
र्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन कहतेहैं कि, हे हृषीकेश ! तुम्हारी उत्तम कीर्तिकरके जगत् आनंदित होताहै और आपसे प्रीति करताहै राक्षस भयको प्राप्तभयेहुये सर्वदिशाओंको भागतेहैं और सर्व सिद्धसमूह नमस्कार करतेहैं सो यह योग्यही है ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्म-
णोऽप्यादिकर्त्रे ॥ अनंत देवेश जगन्निवास त्व-
मक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन् ! ब्रह्मासे भी बडे आदिकर्त्ता जो आप तिनै तुमको वे क्यों न नमन करें अर्थात् करेहींकरें. हे अनंत ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो अक्षर याने जीवतत्त्व सत् जो कार्य स्थूलप्रकृति असत् जो सूक्ष्मप्रकृति कारण तत्पर जो शुद्ध आत्मा सो सब आप हो याने सबके अंतर्यामी हो ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य
परं निधानम् ॥ वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनंतरूप ॥ ३८ ॥

आप आदिदेव पुराण पुरुष हो तुम इस विश्वके परम आधार हो इसके जाननेवाले और जानने योग्य और इसके सर्वोत्तम वासस्थान हो हे अनंतरूप ! यह विश्व तुमकरके व्याप्त है ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोग्निर्वरुणः शशांकः पितामहस्त्वं प्रपि-
तामहश्च ॥ नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च
भूयोपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

पवन अग्नि यम वरुण चंद्र पितामह और प्रपितामह तुम हो इससे तुमको हजारोंवार नमोनमः होउ फिर और फिरभी तुमको नमोनमः ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत
एव सर्व ॥ अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं
समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

हे सर्व ! तुमको अगारीसे और पिछारीसे नमस्कार और तुमको सब ओरसे भी नमस्कार होउ अनंत बल और अमित पराक्रम तुम सर्वमें व्यापक हो इसीसे तुम सर्वरूप हो ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव

हे सखेति ॥ अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ॥ एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

हे अच्युत! तुम्हारे महिमाको और इस विश्वरूपको न जाननेवाला जो मैं तिसने मैंने प्रमादसे अथवा प्रणयसे भी सखा ऐसे मानिके हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! ऐसे हठसे जो कहाहोय और क्रीडा शयन आसन तथा भोजनकेकालमें अकेला अथवा और उन सखाके संमुख इसीके वास्ते जो आपका अपमान किया होय सो परमितिरहित जो आप तिनै आपसे मैं क्षमा करताहूं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ॥ न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥ तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ॥ पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

हे सर्वोत्तमप्रभाव! आप इस चराचर लोकके पिता हो और सबै गुरुनसे बडे गुरु हो इसीसे पूज्य हो तीनों लोकमें भी आप समान और नहीं है तो कहांसे और अधिक होयगा तिससे मैं शरीरको पृथिवीपर धारणकियेभये प्रणामकरके ईश्वर इसीसे स्तुतिकरने योग्य आपको प्रसन्न करूंहूं हे देव! पुत्रके प्रियके वास्ते पिता जैसे सखाके प्रियके वास्ते सखा जैसे ऐसे मेरे प्रिय आप हो सो मेरे प्यारेके वास्ते मेरे अपराध सहनेको योग्य हो ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ॥ तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

जो रूप मैंने और किसीनेभी प्रथम नहीं देखा था उसको देखिके चकित भयाहूं और भयसे मेरा मन व्याकुल भयाहै हे देव! मेरेको वही प्रथमका रूप दिखावो हे देवेश! हे जगन्निवास! आप मेरेपर प्रसन्न होउ ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ॥ तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ॥ ४६ ॥

हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! मैं वैसाही किरीटयुक्त गदायुक्त चक्रहस्त आपको देखनेको चाहता हूं इसवास्ते उस ही चतुर्भुज रूपकरके युक्त होउ ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ॥ तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

ऐसी अर्जुनकी प्रार्थना सुनिके भगवान् बोले कि, हे अर्जुन! जो मेरा तेजोमय विश्वरूप अंतर्हित सबका आदि तुम्हारे विना और किसीने नहीं प्रथम देखा सो यह पर रूप प्रसन्न होके मैंने आपके सत्यसंकल्परूपयोगसे तुमको दिखाया ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाऽध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ॥ एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

हे कुरुवंशिनमें श्रेष्ठवीर। ऐसे रूपका मैं इस मनुष्यलोकमें तुम्हारे विना औरके न वेदपाठ यज्ञ और मंत्रजपँकरके न दानकरके और न योगक्रियाकरके न उग्र तपकरके देखनेको योग्यहूं ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोर-
मीदृङ्ममेदम् ॥ व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

ऐसे घोर मेरे इस रूपको देखिके तुमको व्यथा मति होउ और मोहभाव भी मति होउ भयरहित प्रसन्नमन तुम वही यह मेरो रूप फिर देखो ॥ ४९ ॥

संजय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शया-
मास भूयः ॥ आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं कि, वसुदेवपुत्र कृष्ण ऐसे अर्जुनको कहिके वैसा ही पूर्ववत् आपके रूपको फिर दिखातेभये और जो बडेशरीरयुक्त थे सो सौम्यरूप होके फिर भयभीत अर्जुनको आश्वासते भये ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ॥
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

तब अर्जुन बोले कि, हेजनार्दन! तुम्हारे इस सौम्य मानुष रूपको देखिके अब सचेतभयाहुआ आपके स्वभावको प्राप्तभया सावधान हूं ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ॥

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

अर्जुनके वाक्य सुनिके श्रीकृष्ण बोले कि, हे अर्जुन ! जो अति-दुर्लभदर्शन इस मेरे रूपको तुम देखतेभये इस रूपके देवता भी निरंतर दर्शनाभिलाषी रहाकरते हैं ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ॥
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ॥
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

हे अर्जुन ! जैसे मेरेको तुम देखतेभये इसप्रकारका मैं न वेदोंकरके न तपकरके न दानकरके और न यज्ञकरके देखनेको सकताहौं क्योंकि हे परंतप ! ऐसा मैं अनन्य भक्तिकरके निश्चयपूर्वक जाननेको और देखनेको समीप प्राप्तहोनेको भी सकताहौं॥५३॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ॥
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

हे पांडव ! जो मनुष्य मेरेनिमित्त लौकिक वैदिक सर्व कर्म करताहै मेरेहीको सर्वसे अतिउत्तम मान रहाहै मेरा ही भक्त है मेरे संबंध विना और संगोंकरके रहितहै और सर्वभूतप्राणिनमें निर्वैर है सो मेरे को प्राप्तहोताहै ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्सुकलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यामेकादशाध्यायप्रवाहः ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ॥
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

ऐसे प्रथम आत्मज्ञानकी महिमा श्रीकृष्णजीने वर्णन की फिर भक्तिहीसे जानने देखनेमें और प्राप्तहोनेमें आताहैं सो दोनोंको सुनिके अर्जुन पूंछते हैं कि, निरंतर भक्तियोगयुक्तभयेहुए जो भक्त ऐसे जो आप पीछे अध्यायके अंतमें कहा तैसे आपकी उपासना करते हैं और जो इंद्रियोंके अदृश्य अक्षर याने आत्मस्वरूप उसकी उपासना करतेहैं उन दोनोंमें अतिश्रेष्ठ कौन है याने आत्मज्ञानी श्रेष्ठ है कि, आपके उपासक श्रेष्ठ हैं सो कहो ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ॥
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

ऐसा अर्जुनका प्रश्न सुनिके श्रीकृष्णभगवान् बोले कि, जो निरंतर भक्तियोगयुक्त मेरेमें मनको लगायके परम श्रद्धाकरके युक्त मेरेको भजते हैं वे योगिनमें श्रेष्ठ मेरे मान्य हैं ॥ २ ॥

येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ॥ सर्वत्र-
गमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ॥ ते प्राप्नुवंति
मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ क्लेशोऽधिकतरस्ते-
षामव्यक्तासक्तचेतसाम् ॥ अव्यक्ता हि गति-
र्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

जो कोई इंद्रियसमूहको नियममें राखिके सर्वत्र समबुद्धि सर्वभूतोंके हितमें रतहुयेभये अनिर्देश्य याने देवादि शरीरशब्दोंकरके कह-

नेमें न आवे ऐसे अव्यक्त याने इंद्रियगोचर नहीं "सर्वत्रगं" याने सर्वत्र देवादिशरीरोंमें रहनेवाला अचिंत्य याने ध्यानमें न आवे और कूटस्थ याने सर्वत्र एकसा रहे अचल याने स्वस्वरूपहीमें स्थिर इसीसे नित्य ऐसे अक्षरको याने आत्मस्वरूपको भजते हैं याने आत्मस्वरूपहीका अनुसंधान करते हैं वेभी मेरेहीको प्राप्तहोते हैं परंतु आत्मज्ञानें देशा दुःखपूर्वक देहधारिनकेरके प्राप्तहोताहै इससे उन अव्यक्तासक्तचित्तनको क्लेश अतिशय है ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ॥
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ॥
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

हे पृथापुत्र! जो कोई सर्व कर्मोंको मेरेमें अर्पणकरके मेरेही शरणभयेहुये अनन्य भक्तियोगकरके मेरे को ध्यावते पूजते हैं ऐसे मेरेमें लगायाहै चित्त जिनने उनका मैं थोडे ही कालमें मृत्युदुःखरूप संसारसागरसे उद्धारकर्त्ता होउंगा ॥ ६ ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ॥
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

इससे तुम मेरेहीमें मनको लगावो मेरे हीमें बुद्धिको लगावो इस मन,बुद्धिलगाये पीछे मेरेही समीप रहोगे इसमें संशय नहीं है॥८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ॥
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! जो कदाचित् मेरेमें चित्तको स्थिर समाधानकरनेको नहीं सकते हो तो अभ्यासयोगकरके मेरे प्राप्तहोनेको इच्छतेरहो ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ॥
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

जो अभ्यासमेंभी असमर्थ होउ तो मेरे पूजनादिक कर्मोंमें मुख्य स्थिर होउ मेरे अर्थ भी कर्मोंको करतेकरते मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको प्राप्त होवोगे ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ॥
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

जोकि, तुम यहभी करनेको अशक्त होउ इससे मनको सावधान कियेभये मेरे भक्तियोगका आश्रय कियेभये सर्व कर्मफलका त्याग करो ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ॥
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छांतिरनंतरम् ॥ १२ ॥

जिससे कि, अभ्याससे कल्याणकारक ज्ञान होताहै ज्ञानसे विचार होताहै विचारसे कर्मफलका त्याग होताहै कर्मफलके त्यागसे फिर शांति याने संसारसे वैराग्य होताहै ॥ १२ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ॥
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ॥
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

जो सर्वभूतोंका न द्वेषकारक होय और सबका मित्र होय और दयालु भी होय ममतारहित अहंकाररहित सुखदुःखमें सम क्षमावान् यथालाभसंतुष्ट निरंतर भक्तियोगवान् जितचित्त दृढनिश्चय मेरेमें मन बुद्धिको लगायेहोई सो मेरा भक्त मेरेको प्रिय है ॥ १३ ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ॥
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

जिससे कोई भी जंतु त्रास नपावै और जो किसीसे भी दुःख न पावै और जो हर्ष, ईर्षा, भय और उद्वेगोंकरके रहित होय सो मेरा प्रिय है १५

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ॥
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

जो मनुष्य मेरे संबंधविना सर्वत्र अपेक्षारहित शुचि याने शुद्ध-आहारी और बाहर मृत्तिका जलादिकरके और अंदर चित्तकी शुद्धताकरके पवित्र स्वधर्मअनुष्ठानमें चतुर शत्रुमित्रादिभेदरहित शास्त्रोक्त कर्म करनेमें व्यथारहित सर्व आरंभोंके फल और ममता का त्यागी ऐसा मेरा भक्त सो मेरेको प्रिय है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ॥
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

जो सुखकारक वस्तु पायके न हर्षै दुःखकारक पायके न द्वेषकरै शोकनिमित्तमें न शोककरै और हर्षकारककी न इच्छाकरै जो शुभाशुभ कर्मफलोंका त्यागीहुआभया भक्त होय सो मेरे प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ॥
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ॥ अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १८ ॥ १९ ॥

शत्रु और मित्रमें सम तैसा ही मान अपमानमें और शीतउष्ण सुखदुःखोंमें सम होय विषयोंकी आसक्तिरहित निंदा स्तुति तुल्यमाने मितभाषी जो स्वतःप्राप्तहोई ईसीकरके संतुष्ट घरमें अनासक्त स्थिरबुद्धि भक्तिमान् मनुष्य मेरा प्रिय है ॥ १८ ॥ १९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ॥
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

जो कोई श्रद्धा धारेभये मेरेहीको सर्वोत्तम जाननेवाले भक्त इस यथोक्त धर्मरूप अमृतको याने मेरेमें मन लगाना इत्यादि धर्मरूप अमृतको सेवते हैं वे मनुष्य मेरे अतिशय प्रिय हैं ॥ २० ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीगीतामृततरंगिण्यां द्वादशोऽध्यायप्रवाहः ॥ १२ ॥

इति द्वितीयं षट्कम् ।

अथ तृतीयं षट्कम् ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ॥
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

प्रथमके छः अध्यायोंमें ईश्वरप्राप्तिका उपायभूत उपासना और उपासनाका अंगभूत आत्मस्वरूपज्ञान कहा और उस आत्मस्वरूपज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानयोगकर्मयोगनिष्ठासे होती है ऐसे कहा ॥ मध्यके छःअध्यायोंमें परमात्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान और उसके माहात्म्य ज्ञानपूर्वक उपासना जिस उपासनाको भक्ति भी कहते हैं सो कहते भये ॥ अब अंतके छः अध्यायोंमें प्रकृतिपुरुषका निरूपण और इस प्रपंचका प्रकृतिपुरुषसंयोगसे होना कहेंगे और प्रथम बारह अध्यायोंमें जो परमात्मस्वरूपका यथार्थ निश्चय और कर्मज्ञानभक्ति-

स्वरूप और इनके ग्रहणके न्यारेन्यारे प्रकार कहेंगे ॥ तहां तेरहवें अध्यायमें देह और आत्माके स्वरूप और आत्मस्वरूपप्राप्तिका उपाय तथा प्रकृतिमुक्त आत्माका स्वरूप और उसके प्रकृतिसंबंधका कारण और प्रकृतिपुरुषविवेकका अनुसंधानप्रकार कहेंगे ॥ श्रीकृष्णभगवान् कहतेहैं कि; हे कुंतीपुत्र ! यह शरीर क्षेत्र ऐसो कहाहै जो इसको जानताहै उसको देहात्मज्ञानिजन क्षेत्रज्ञ ऐसे कहते हैं याने देह क्षेत्र और आत्मा क्षेत्रज्ञ है ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

हे भारत ! सर्वक्षेत्रोंमें याने सर्वदेहोंमें क्षेत्रज्ञ जो जीव और मैं जो परमात्मा तिस मेरेको भी जानो जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान याने इनका विवेक ज्ञान है सो ज्ञान मेरेको अंगीकार है ॥ यहां जो शरीरोंमें आत्मा परमात्मा दोनों कहे उसपर श्रुति प्रमाण है सो यह "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥" अर्थ—दोपक्षी संगसंग रहनेवाले परस्पर सखा एक सदृश वृक्षपर रहतेहैं उनमेंसे एक उस वृक्षके स्वादु फल खाताहै दूसरा खाएविना प्रकाशताहै ॥ अर्थात् ईश्वर और जीव सदा संग रहते हैं परस्पर सखा एकसरीखे देहमें रहतेहैं तिनमें जीव शरीरजन्य कर्मफलोंका भोक्ता है और ईश्वर साक्षीमात्र प्रकाशक है दूसरा यह अर्थ होताहै कि, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ मैंहीं हौं अर्थात् इन दोनोंका अंतर्यामी हौं तो भी देहांतर्यामी जीव जीवांतर्यामी परमात्मा ऐसे भी वही अर्थ सिद्धभया जो यहां जीव और ईश्वर एकही कहते हैं उनको "उत्तमःपुरुषस्त्वन्यः" यहां अर्थकी पंचाइत होनेकी शंका आती है अंतर्यामित्वमें तो "ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥ नतदस्तिविनायत्स्यान्मया भूतं चराचरम्" और

"यस्यात्मा शरीरं य आत्मनि तिष्ठन् य आत्मानमंतरो यमयति यमात्मा न वेद स ते आत्मा अमृत" इत्यादिक श्रुति भी प्रमाण हैं ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ॥
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

सो क्षेत्र जिस द्रव्यका है और जिनके आश्रयभूत है और जिन विकारोंकरके और जिस प्रयोजनकेवास्ते उत्पन्न भयाहै और जिसरूपसे वर्तमान है और वह क्षेत्रज्ञ जो है याने जैसे रूपयुक्त है और जैसे प्रभाववाला है सो संक्षेपकरके मेरे से सुनो ॥ ३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक् ॥
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

वह क्षेत्र क्षेत्रज्ञका यथास्वरूप बहुत प्रकारकरके पराशरादिक ऋषिननें और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ऐसे अनेक प्रकार वेदोंने और ब्रह्मके प्रतिपादन करनेवाले जो ब्रह्मसूत्र याने व्यासकृत शारीरक सूत्ररूप पदोंने जो कारणयुक्त निश्चय याने सिद्धांतकरनेवाले उनने भी क्षेत्रक्षेत्रज्ञके स्वरूपको न्यारान्यारा कहाहै सो मैं संक्षेपसे कहौंगा तुम मेरेसे सुनो ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ॥
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेंद्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ॥
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि याने महत्तत्व और अव्यक्त याने सूक्ष्मरूप प्रकृति ये क्षेत्रके उत्पत्तिकारक द्रव्य हैं अब विकार याने कार्य कहते हैं दश और एक ऐसे ग्यारह इंद्रियां हैं जैसे कि, कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नासिका ये पांच ज्ञानइंद्रियां वाणी, हाथ, पाँव,

गुदा और लिंग ये पांच कर्मइंद्रियां एक मन ऐसे ग्यारह इंद्रियों और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच इंद्रियोंके विषय हैं ये सोलह विकारहैं इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात याने सविकार-भूतसमूह चेतना जो ज्ञानशक्ति धृति जो धीरज ऐसे संक्षेपसे विकारसहित यह क्षेत्र कहा ॥ ५ ॥ ६ ॥

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ॥
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अब क्षेत्रकार्योंमें आत्मज्ञानसाधनके वास्ते ग्रहण करनेके गुण कहतेहैं जैसे कि, श्रेष्ठ जनोंमें मानका न चाहना लोक दिखानेको धर्म कर्मरूप दंभ न करना, परपीडारूप हिंसाको न करना, अपनेसे बलहीनके अपराध सहनरूप क्षमा राखना, सर्वसे सरलस्वभाव रहना, मन, वचन, कर्म करके गुरुकी सेवा करना, मृत्तिका जलादिसे बाहर और शुद्धचित्तसे ईश्वरस्मरणरूप अंतर ऐसा शौच करना आत्म-ज्ञानमें स्थिर रहना, मनको सर्वत्रसे निवारणकरके ईश्वरमें लगाना॥ ७॥

इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ॥
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इंद्रियविषयोंमें गुणबुद्धि न करना और देहमें और देहसंबंधी पदार्थोंमें अहंबुद्धिभी न करना, जन्म मृत्यु वृद्धावस्था अनेक रोग ऐसे शरीरमें इन दुःखरूप दोषोंका विचारना ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ॥
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

आत्माविना अन्यत्र आसक्तिरहित पुत्र स्त्री और घर इत्यादि-कोंमें अति मिलाप न रखना और इष्ट और अनिष्टवस्तुकी प्राप्तिमें निरंतर समचित्त रहना ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ॥
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मेरेमें अनन्ययोगकरके अखंड भक्ति और एकांत रहनेमें प्रीति जनसभामें अप्रीति ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ॥
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

आत्मसंबंधी ज्ञानकी नित्यता तत्वज्ञानके प्रयोजनका विचारनो ऐसे यह ज्ञान कहा जो इससे अन्यथा है सो अज्ञान है ॥ ११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ॥
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

जो जाननेयोग्यहै सो कहताहूं जिसको जानिके मोक्षको पाताहै वह ऐसा है कि, अनादि याने जन्मरहित है मत्पर याने उससे श्रेष्ठ मेंही हूं वह केवल मेरे स्वाधीन है ब्रह्म याने प्रकृतिमुक्त शुद्ध चैतन्य जीवात्मा है वह आत्मा न सत् न असत् कहनेमें आताहै याने कार्य-कारण दोनों अवस्थाओंकरके रहित है ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

वह जीवात्मा सब ओरसे हाथपाँववाला है सब ओरसे नेत्र मस्तक और मुखवालाहै सब ओरसे कानवालाहै लोकमें वस्तुमात्रमें व्यापक होके रहताहै यह स्वरूप मुक्तजीवका कहा मुक्तदशामें जीवकी समता परमात्माके सरीखी है सो यहां गीतामेंभी कहेंगे " इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः " सूत्रभी है " भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च " और " तथाविद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति " ऐसे जो परमात्माकी समता कही है तो परमात्मासरीखा स्वरूप होनेमें क्या शंका है ॥ १३ ॥

सर्वेंद्रियगुणाभासं सर्वेंद्रियविवर्जितम् ॥
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

सर्व इंद्रियनकी वृत्तिनकरके भी विषयनको जाननेमें समर्थ हैं और आप स्वभावसे सर्वइंद्रियोंकरके रहित भी हैं याने इंद्रियनकी वृत्तिनविना भी विषयनको जाननेमें समर्थ हैं आप स्वयं देवादि शरीरोंमें आसक्त नहीं हैं और सर्व देवादिशरीरोंका धारणकरनेवालाहै सत्वादिगुणरहित और गुणोंका भोगनेवाला है ॥ १४ ॥

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च ॥
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥ १५ ॥

वह आत्मा मुक्तावस्थामें पृथिव्यादिभूतोंके बाहर और बद्धावस्थामें भीतर रहता है स्वयं आप अचर है और देहसंयोगसे चरहोता है सूक्ष्म है इससे जाननेयोग्य नहीं है वह अज्ञानिनको दूरहै और ज्ञानिनको समीप है ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ॥
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

वह पृथिव्यादि भूतविकार देवादि शरीरोंमें एकरस रहता है और अज्ञानिनको देवादिशरीरोंमें देवादिशरीरोंके सदृश दीखता है कि, यह देव यह मनुष्य पशु इत्यादिक विभक्तसरीखा स्थित दीखता है और सर्वभूतोंका पोषक है और अन्नादिक भूतोंका भक्षक है देहरूपसे आहारकरनेवाला है और उसी अन्नादिविकारसे उत्पत्तिकर्ताभी है ऐसे जाननेयोग्य है ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

वह सूर्यादिक ज्योतिनको भी प्रकाशक है सूक्ष्मकारणरूप प्रकृ-

तैसे पर यांने न्यारा कहाता है ज्ञांनरूप जाननेयोग्य ज्ञानसे प्राप्त-होने योग्य सर्वके हृदयमें रहता है याने सर्व देव, मनुष्य, पशु, पक्ष्यादि शरीरोंके हृदयमें रहता है ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ॥
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

ऐसे "महाभूतान्यहंकारः" यहांसे लेके, "संघातश्चेतनाधृतिः" यहां-पर्यंत क्षेत्र कहा तथा "अमानित्वं" यहांसे लेके "तत्वज्ञानार्थदर्शनं" यहांपर्यंत ज्ञान कहा और "अनादिमत्परं" यहांसे लेके "हृदि सर्वस्य धिष्ठितं" यहांपर्यंत ज्ञेय याने जाननेयोग्य आत्मस्वरूप कहा ऐसे यह संक्षेपसे कहा यतनेको जानिके मेरा भक्तहोके मेरेसरीखे स्वरूपको प्राप्तहोय ॥ १८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ॥
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

प्रकृतिको और पुरुषको याने जीवको इन दोनोंको भी अनादि याने सनातन जानो जो बंधनकारक इच्छा द्वेष सुख दुःखादिक विकार उनको और मोक्षकारक अमानित्व अदंभित्व गुण उनको निश्चयपूर्वक प्रकृतिसंभव जानो अर्थात् इच्छादिविकारयुक्त प्रकृ-ति पुरुषकी बंधनकारक और अमानित्वगुणयुक्त मोक्षदायक होती है ॥ १९ ॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ॥
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

अब एकसंग रहेभये प्रकृतिपुरुषोंके कार्यभेद कहते हैं जैसे कि, कार्य जो प्रकृतिपरिणाम देहकारण मनसहित इंद्रियां इनका व्यापार करानेमें कारण प्रकृति कही है सुखदुःखोंके भोक्तापनेमें कारण

पुरुष कहाहै याने भोगसाधनकर्मकी आश्रय प्रकृतिपरिणाम और पुरुषयुक्त देह तथा सुखादिभोक्तृत्वआश्रय पुरुष है ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ॥
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

जिसवास्ते कि, यह पुरुष प्रकृतिहीमें रहाभया प्रकृतिजन्य गुणोंको भोगताहै तिसीसे इसका ऊंचनीचयोनिनमें जन्मलेनेमें कारण प्रकृतिगुणोंका याने सत्वादिगुणोंका संगही है अर्थात् उन गुणनकी आसक्तिहीसे ऊंच नीच जन्म होते हैं ॥ २१ ॥

उपद्रष्टाऽनुमंता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ॥
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

इस देहमें यह पुरुष देखनेवाला है याने चौकसी करनेवाला है और अनुमोदन देनेवाला याने सलाह देनेवाला है और इस देहका पोषनेवाला है और भोगनेवाला है और इसका महेश्वर है जैसे कि, इस देहमें ईश्वर इंद्रिय मन इत्यादि हैं उनका भी ईश्वर है. ऐसे इस देहसे यह जीव न्याराभी है तौभी अज्ञानसे केवल यह देह ऐसा कहाताहै ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ॥
सर्वथा वर्त्तमानोपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

जो ऐसे इस जीवको और गुणोंकरके सहित प्रकृतिको जानता है सो सर्व प्रकारसे संसारमें रहताहै तौभी फिर नहीं उत्पन्न होताहै ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यंति केचिदात्मानमात्मना ॥
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानंतः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ॥

तेपि चातितरंत्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

कितनेक पुरुष आपके अंतःकरणमें बुद्धिसे विचारकरके इस जीवात्माको जानतेहैं और कितनेक सांख्य योगकरके जानतेहैं और कितनेक कर्मयोग करके याने ईश्वरार्पणकर्म करते करते जानतेहैं और कितनेक और ऐसे नहीं जानतेभये दूसरोंसे सुनिके उपासना करतेहैं याने सुनिके प्रथमसरीखे उपाय करके जानतेहैं और कितनेक केवल श्रद्धायुक्त श्रवणही करते रहते हैं तौ वे भी संसारको तरतेहैं ॥ २४ ॥ २५ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे भरतवंशिनमें श्रेष्ठ अर्जुन ! जितनो कुछ थावर और जंगम प्राणी उत्पन्न होता है उसको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे याने शरीर और जीवके संयोगसे जानो ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम् ॥
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

जो कोई सर्व भूतोंमें सम रहेभये केवल मन इंद्रियादिकोंके ईश्वर इस जीवको इन इंद्रियादिकोंके नाशहोतेभी इसको नाशरहित दीखताहै याने जानताहै सोई जानताहै ॥ २७ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ॥
नहिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥

सर्व देवादिशरीरोंमें एकसरीखे रहेभये इस मन इंद्रियादिकोंके ईश्वर जीवात्माको सम देखताभया जो कि, बुद्धिपूर्वक आपको नहीं हनताहै याने संसारमें नहीं गिराताहै उससे वह परम गतिको याने मुक्तिको पावताहै ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ॥
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

जो सर्व कर्मोंको प्रकृतिहीकरके याने प्रकृतिविकार इंद्रियों-करके ही करेभये जानताहै और तैसेही आपको अकर्त्ता जानताहै सो जानताहै ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ॥
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

जब भूतोंका पृथग्भाव याने देवमनुष्यादिक शरीरोंकी छोटाई बड़ाई मोटाई पतराई इत्यादिक न्यारेन्यारे भावोंको एकस्थ याने एकप्रकृतिहीमें देखताहै और उसी प्रकृतिमें पुत्रादिरूप विस्तारको देखताहै तब शुद्धस्वरूपको प्राप्तहोताहै ॥ ३० ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ॥
शरीरस्थोपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

हे कुंतीपुत्र ! यह जीवात्मा अनादिपनेसे अविनाशी है केवल शरीरमें रहाभया भी निर्गुणपनेसे न कुछ कर्मनको करताहै न उन कर्मफलोंकरके लिप्त होताहै ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ॥
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जैसे सर्वत्र प्राप्त भयाहुआ आकाश सूक्ष्मतासे उन भूतोंके गुणोंकरके लिप्त नहीं होता है तैसे सर्वदेवादिशरीरोंमें रहाभया जीवात्मा देहगुणोंकरके नहीं लिप्तहोताहै ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ॥
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

हे भारत ! जैसे एक सूर्य इस सर्व लोकको प्रकाशताहै तैसे यह जीव सर्व शरीरको प्रकाशताहै ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमंतरं ज्ञानचक्षुषा ॥
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यांति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

जोकोई ज्ञानदृष्टिकरके क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ऐसे अंतरको और भूतप्रकृतिके मोक्षको जानतेहैं वे मेरेको प्राप्तहोतेहैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्सुकलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यांत्रयोदशाध्यायप्रवाहः॥ १३ ॥

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ॥
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णभगवान् अर्जुनसे कहतेहैं कि, सर्वज्ञानोंमें उत्तम प्रसिद्ध भयाहुआ ज्ञान फिर कहताहौं जिसको जानिके सर्व मुनिजन यहांसे श्रेष्ठ सिद्धिको याने परमपदको जातेभये ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥
सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च ॥ २ ॥

जो कहताहौं इस ज्ञानको प्राप्तहोके मेरी सधर्मताको याने मेरे सम्पूर्णरूप वैभवको वे मुनिजन प्राप्तहोतेभये वे उत्पत्तिकालमें न उत्पन्न होतेहैं और प्रलयमें न दुःखी होतेहैं ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ॥
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! मम महद्ब्रह्म याने मेरी प्रकृति सर्वभूतोंका योनि याने उत्पत्तिस्थान है मैं उस प्रकृतिमें जीवरूपगर्भको धारण करता हौं तब उससे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति होतीहै ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवंति याः ॥
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे कुंतीपुत्र ! देवमनुष्यादि सर्व योनिनमें जो देहै उत्पन्नहोतेहैं उन सबकी महत् ब्रह्म याने प्रकृति कारण है मैं चेतनरूप बीजका देनेवाला पिता हौं ॥ ४ ॥

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ॥
निबंध्नंति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण ये प्रकृतिसे उत्पन्न गुण इस देहमें अविनाशी जीवको बंधनकरतेहैं ॥ ५ ॥

तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ॥
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चाऽनघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप ! उनगुणोंमें सत्वगुण निर्मलतासे प्रकाशक याने शुभाशुभकर्मोंका दिखानेवाला रोगरहित है इसीसे यह सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानके संग करके बांधताहै याने ज्ञानसुखसे शुभकर्म शुभकर्मसे स्वर्गादि फिर उत्तमकुलमें जन्म फिर ज्ञानसुख ऐसे बांधताहै ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ॥
तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे कुंतीपुत्र ! तृष्णा और स्त्री धनादिनमें आसक्तिका करनेवाली रजोगुण विषयादिकमें प्रीति उपजानेवाला जानो वह जीवको कर्म

बंधनसे बांधताहै जैसे प्रीत्यात्मक कर्मसे उन कर्मसंगिनमें जन्म फिर कर्म फिर जन्म ऐसे ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ॥
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे भारत ! सर्वदेहधारी जीवोंको मोहनेवाला तमोगुण अज्ञानका कारण जानो और वह प्रमाद आलस और निद्राकरके बंधन करताहै ॥ ८ ॥

सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ॥
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे भारत ! सत्वगुण मनुष्यको सुखमें लगाताहै रजोगुण कर्ममें तमोगुण ज्ञानको ढंकिके फिर प्रमादमें लगाताहै ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत ॥
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

हे भारत ! यद्यपि ये गुण प्रकृतिके हैं तोभी विपरीतताका कारण यह कि, रजोगुण और तमोगुणको जीतिके सत्वगुण प्रबल होताहै और रजोगुण सत्वगुणको जीतिके तमोगुण प्रबल होताहै तैसेही तमोगुण सत्वगुणको जीतिके रजोगुण प्रबल होताहै यहां कारण प्राचीन कर्म और नित्य आहारादिक हैं ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ॥
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ॥
रजस्येतानि जायंते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतवंशिनमेंश्रेष्ठ ! इस देहमें जब सबनेत्रादिद्वारोंमें प्रकाश याने वस्तुका यथार्थ निश्चय सोई ज्ञान उत्पन्नहोय तब सत्वगुण बढाहै ऐसा जानना और रजोगुणके बढनेसे लोभ जो धनादिक खनारचवि

और मिलनेकी इच्छा प्रवृत्ति याने प्रयोजनविना चंचलता कर्मनेका आरंभ इंद्रियलोलुपता विषयइच्छा इतने उत्पन्न होतेहैं ॥११॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ॥
तमस्येतानि जायंते विवृद्धे कुरुनंदन ॥ १३ ॥

हे कुरुनंदन ! तमोगुणके बढनेसे विवेककी हानि निरुद्यमता और न करनेका करना और विपरीतज्ञान इतने ये होतेहैं ॥ १३ ॥

यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ॥
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब सत्वगुणके बढनेके समयमें देहधारी प्रलय याने मृत्युको प्राप्त-होय तब आत्मज्ञानिनके शुद्ध लोकोंको प्राप्तहोताहै अर्थात् आत्मज्ञानिनके कुलमें आत्मज्ञान जाननेयोग्य शरीरोंको प्राप्तहोताहै "लोकस्तुभुवनेजने" इसप्रमाणसे यहाँ लोकशब्द जनवाचीहै ॥१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ॥
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होके कर्मसंगिनमें जन्म लेताहै याने उनमें जन्म लेके सकामकर्म करके स्वर्ग जाताहै फिर उनहीमें जन्म लेके फिर कर्म करके स्वर्ग ऐसेही फिरता रहताहै तथा तमोगुणमें मराभया नीचयोनिमें जन्मताहै वहाँभी वैसाही क्रम जानना ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ॥
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सुकृत कर्मको फल सात्विक निर्मल कहते हैं याने उसके करते करते कोई जन्ममें मुक्तहोताहै और रजोगुणी कर्मका फल दुःख याने उस सकामसे स्वर्ग स्वर्गसे मृत्युलोक फिर स्वर्ग ऐसे संसारदुःख ही है

तमोगुणीकर्मको फल अज्ञान है याने उससे नरक ही है ॥ १६ ॥

सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ॥
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सात्विककर्मसे ज्ञान होताहै और राजससे लोभही होताहै तामससे अज्ञान और मोह होतेहैं और अज्ञान भी होताहै ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छंति सत्वस्था मध्ये तिष्ठंति राजसाः ॥
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छंति तामसाः ॥ १८ ॥

सात्विककर्म करनेवाले मुक्तिको पातेहैं राजसकर्मवाले मध्यमें (स्वर्ग मृत्यु लोकहीमें) रहतेहैं जैसे पुण्यसे स्वर्ग पुण्य क्षीण होनेसे मनुष्यलोक फिर पुण्यसे स्वर्ग ऐसे वारंवार मध्यहीमें रहतेहैं तमोगुणी नीचगुणकी वृत्तिमें वर्त्तनेवाले तामसी नीचजाति पशुकीटादिकमें जन्मते रहतेहैं ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ॥
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

जब विवेकी पुरुष सत्वादिगुणोंके विना और किसीको कर्त्ता नहीं जानता है और आपको गुणोंसे न्यारा जानता है तब सो मेरी साम्यताको प्राप्तहोताहै ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ॥
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

यह देहधारी जीव देहमें उत्पन्नभये इन सत्वादि तीनि गुणोंको उल्लंघन करके जन्म मृत्यु और जरापनके दुःखोंकरके छुटाभया मोक्षको पाताहै गुणयुक्त नहीं ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच।

कैर्लिंगैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ॥

किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्त्तते ॥ २१ ॥

ऐसे सुनिके अर्जुन पूंछते हैं कि, हे प्रभो ! कौनसे चिह्नोंकरके इन तीन गुणोंको उल्लंघनकियाभया होताहै वह कैसे आचरणवाला होताहै और इन तीनों गुणोंको कैसे उल्लंघन करै ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ॥
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो यो गुणैर्न विचाल्यते ॥
गुणा वर्त्तंत इत्येवं योवतिष्ठति नेंगते ॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ॥
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ॥
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

अर्जुनका प्रश्न सुनिके भगवान् कहते हैं कि, हे पांडुपुत्र ! जो पुरुष प्रकाश याने आरोग्यादिक सत्वगुणके कार्य और प्रवृत्ति याने रजोगुणके कार्य और मोह याने तमोगुणके कार्य ये जो प्रवृत्तहोयँ तो इनको नहीं त्यागचाहता है और निवर्त्तभये इनको न चाहता है उदासीनसरीखा स्थित भयाहुआ गुणोंकरके नहीं चलायमान होता है आप आपके कार्योंमें गुण ही वर्त्तमान हैं ऐसे जो स्थिर है चलायमान नहीं होताहै सुखदुःखमें सम स्वस्थ ठीकरी कंकर पत्थर और सोना जिसके सम हैं तुल्य हैं प्रिय अप्रिय जिसके और इसीसे आपकी निंदा स्तुति समान जानताहै मान और अप-

मानें तुल्य मित्रशत्रुपक्षमें तुल्य मेरे सेवनादिकविना सर्व आरंभोंका त्यागी सो गुणातीत कहाताहै ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ॥
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ॥
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च ॥ २७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

जिसवास्ते कि मरणधर्मरहित और इसीसे अविनाशी जो ब्रह्म याने मुक्तजीव उसका और सनातन धर्म जो भक्तियोग उसका और मुख्य सुख जो स्वस्वरूपकी प्राप्ति उसका मैं आधारहूं इसीसे जो अखंडित भक्तियोगकरके मेरेको भजताहै सो इन गुणोंको उल्लंघन करके मेरी समताको प्राप्त होताहै ॥ २६ ॥ २७॥

इति श्रीमत्सुकलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यांचतुर्दशाध्यायप्रवाहः ॥१४॥

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ॥
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

तेरहवें अध्यायमें क्षेत्ररूप प्रकृति और क्षेत्रज्ञ पुरुष याने जीव इनका स्वरूप कहा, शुद्धजीवात्माके भी प्रकृतिसंबंधी गुणोंके प्रवाहनिमित्त देवादिक आकारसे परिणामको प्राप्तभई जो प्रकृति उसका संबंध अनादि कहा, चौदहवें अध्यायमें कहा कि, इस जीवको जो कार्य और

कारण अवस्थानमें यह गुणसंगप्रवाह मूलप्रकृतिसंबंध सो भगवान्‌हीने किया है ऐसे कहिके विस्तारसहित गुणसंगप्रकारको कहिके कहा कि, गुणसंगनिवृत्तिपूर्वक स्वस्वरूपकी प्राप्ति भगवद्भक्तिमूल ही है. अब पंद्रहवें अध्यायमें जो भजने योग्य भगवान् आपके कल्याण-गुणादिकोंकरके बद्ध मुक्त दोनों प्रकारके जीवोंसे विलक्षण (न्यारे) उनका पुरुषोत्तमत्व कहनेको जो यह बंधन आकारसे विस्तारित प्रकृतिका परिणाम विशेषसंसार उसको पीपरवृक्षरूप कल्पित करके श्रीकृष्ण भगवान् बोलतेभये कि, जिसके वेद पत्ते अर्थात् जैसे पत्तोंकरके वृक्ष बढताहै तैसे यह संसाररूप वृक्ष वेदोक्तकर्म करके बढताहै इससे वेद पत्तारूप हैं ऊर्ध्वमूल याने सत्यलोकमें ब्रह्मा जिसका मूल है अधःशाख याने सत्यलोकसे नीचे जो देव मनुष्य कीट पतंगपर्यंत शरीर ये उसकी शाखा हैं ऐसा अव्यय याने सम्यक् ज्ञानप्राप्ति होनेसे प्रथम अज्ञानदशामें प्रवाहरूप करके छेदनेके अयोग्य इसीसे अज्ञानिनके अविनाशी हैं ऐसा इस संसारको अश्वत्थ याने पीपरवृक्षरूप श्रुति कहती हैं तिसको जो जानताहै सो वेदका जाननेवाला है अर्थात् वेद इस संसारके छेदनेका उपाय कहताहै तो जो इसको जानेगा तो छेदनेका भी उपाय जानेगा इससे वह वेदजाननेवाला है ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ॥ अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अब उस संसारवृक्षकी और भी विलक्षणता कहते हैं जैसे कि, सत्वादिगुणोंकरके बढीभई और शब्दादिक विषय जिनके प्रवाले याने

कोंपल यानि जो नये एक दिनके निकसेभये पत्ते वैसे पत्ते जिनके विषय हैं ऐसी उस वृक्षकी शाखायें नीचे मनुष्यलोकमें और ऊपर देव गंधर्वादिलोकोंमें फैलरही हैं अर्थात् नीचकर्मसे नीचे मनुष्योंसे भी नीच पश्वादिशरीर ऊपर उत्तमकर्मसे उत्तम देवादिशरीररूप शाखें फैलरही हैं नीचे मनुष्यलोकमें भी उसकी कर्मानुसारी मूलें फैली-रही हैं अर्थात् मनुष्यलोकमें जो ऊंच नीच कर्म वही मूलरूप हैं ऊंच नीच पदवी कर्मविना नहीं कर्म मनुष्यशरीरविना नहीं होताहै ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नांतो न चादिर्न
च संप्रतिष्ठा ॥ अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसं-
गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥ ततः पदं तत्परिमा-
र्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्त्तंति भूयः ॥ तमेव
चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

इस संसारवृक्षका इस लोकमें जैसा कहा है तैसा रूप अज्ञानीजनों करके नहीं जाननेमें आताहै न उसका अंत और न आदि और न स्थिति जाननेमें आतीहै ऐसे दृढमूल इस पीपरवृक्षको अतिदृढ वैराग्यरूप शस्त्रसे छेदन करके फिर जिससे यह प्राचीन प्रवृत्ति यानि गुणमय भोगरूप संसारप्रवाह विस्तरितहै उसी आदि पुरुषके शरणागत होके उस पदको ढूँढना कि, जिसमें गयेभये मुनिजन फिर इस संसारमें नहीं आतेहैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या
विनिवृत्तकामाः ॥ द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्ग-
च्छंत्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

जो मानमोहकरके रहित हैं और जिनने संगदोषोंको जीताहै और जो अध्यात्मशास्त्रहीमें नित्य वर्तमान हैं और जिनकी कामना निवृत्त

है जो सुखदुःखसंज्ञक द्वंद्वोंसे छुटेभये हैं वही ज्ञानीजन उस अविनाशी पदको प्राप्त होतेहैं याने स्वस्वरूपको प्राप्त होतेहैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ॥
यद्गत्वा न निवर्त्तंते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

सूर्य उस आत्माको नहीं प्रकाशिसकताहै न चन्द्रमा और न अग्नि प्रकाशिसकताहै जिसरूपको याने शुद्धआत्मस्वरूपको प्राप्त होके नहीं संसारमें आतेहैं वह मेरा परम धाम है याने मेरे रहनेका मुख्य स्थान मेरा शरीर है इस जगह "यस्यात्मा शरीरं" यह श्रुति भी प्रमाण है ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ॥
मनःषष्ठानींद्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

जो यह ऐसा वर्णन किया सो यह मेराही सनातन अंश है याने जैसे प्रकृति और अनंत जीव मेरेही हैं उनमें यह एक मेराही है मेरी ही विभूति है सो यह इस जीवलोकमें जीवभूत याने अति संकुचितज्ञान-भयाहुआ पांच ज्ञानेंद्रिय और एक मन ऐसे मनसहित छः प्रकृतिवि-कार इस देहमें रहीभयीं इंद्रियोंको खैंचता फिरताहै ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ॥
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानिवाशयात् ॥ ८ ॥

जब यह जीव शरीरको प्राप्तहोताहै और जब वर्त्तमान शरीरसे जाताहै तब यह मन इंद्रियोंका ईश्वर आपकी सेनारूप इन इंद्रियों-को, पवन पुष्पादिक गंधस्थानसे गंधोंको जैसे तैसे ग्रहणकरके जाताहै ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ॥

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यह जीवात्मा श्रोत्रइंद्रिय याने कान नेत्र और स्पर्शन जो त्वचा- इंद्रिय रसना जो जिह्वा और घ्राण जो नासिका और मन इनको आश्र- यकरके विषयोंको सेवताहै ॥ ९ ॥

उत्क्रामंतं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ॥
विमूढा नानुपश्यंति पश्यंति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

यह जो गुणोंकरके युक्त आत्मा तिसको देहत्यागतेको अथवा देहमें रहते भयेको अथवा विषयभोगतेभयेको भी अज्ञानीजन नहीं देखतेहैं जिनके ज्ञानदृष्टि है वे देखतेहैं ॥ १० ॥

यतंतो योगिनश्चैनं पश्यंत्यात्मन्यवस्थितम् ॥
यतंतोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यंत्यचेतसः ॥ ११ ॥

योगीजन जतन करते करते आपके अंतःकरणमें रहेभये इस आत्माको देखतेहैं और जो विषयासक्त हैं वे जो शास्त्रद्वारा उपाय करैं तोभी वे अज्ञानी इस आत्माको न देखिसकैं ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ॥
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

जो सूर्यमें रहाभया तेज सर्व जगत्को प्रकाशिरहा है और जो तेज चंद्रमामें और जो अग्निमें है उस तेजको मेराही तेज जानो ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ॥
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

मैं पृथिवीमें प्रविष्टहोके अपने अचिंत्य सामर्थ्यकरके सर्वभूतों- को धारण करताहूं और अमृतमय चंद्र होके सर्व औषधिनको पोलताहूं ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ॥
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

मैं जठराग्नि होके सर्वप्राणिनके देहमें रहाभया प्राण और अपान-संयुक्त भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय ऐसे चारप्रकारके अन्नको पचाताहूं १४

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञान-
मपोहनं च ॥ वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदांत-
कृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

मैं सर्वके हृदयमें प्रविष्टहूं और सर्वके स्मृति ज्ञान और विचार मेरेसे होतेहैं और सर्व वेदोंकरके मैंही जानने योग्यहूं और वेदांतका कर्ता और वेदका जाननेवाला मैं ही हूं ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ॥
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

इस लोकमें क्षर और अक्षर ऐसे ये दोप्रकारके पुरुष हैं तिनमें सर्व शरीरधारी भूतप्राणी क्षर और मुक्तजीव अक्षर कहाताहै इन दोनोंसे उत्तम पुरुष और है जो परमात्मा ऐसे कहाताहै जो अविनाशी ईश्वर त्रिलोकीमें प्रवेशकरके सर्व त्रिलोकीका भरण पोषण करता है ॥ १६ ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ॥
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

जिसवास्ते कि, मैं बद्धावस्थ जीवसे श्रेष्ठ और मुक्तसेभी उत्तम हूं इससे स्मृति और वेदमेंभी पुरुषोत्तम प्रसिद्धहूं ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ॥
ससर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

हे भारत ! जो सम्यक् ज्ञानीपुरुष ऐसे मेरेको पुरुषोत्तम जानता है सो सर्वज्ञ है इसीसे वह सर्वभाव याने माता पिता सुहृद् धनादिक मेरेको जानिके मेरेहीको भजताहै ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ॥
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुराणपुरुषोत्तमयोगोनाम पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

हे निष्पाप ! ऐसे यह अतिगोप्य शास्त्र मैंने कहा है भारत ! इसको जानिके बुद्धिमान् और कृतकृत्य होताहै ॥ २० ॥

इति श्रीमत्सुकलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीताऽमृततरंगिण्यां पंचदशाध्यायप्रवाहः ॥१५॥

ऐसे तेरवहें अध्यायसे पंद्रहके समाप्तिपर्यंत क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेक और गुणत्रयका विभाग और क्षराक्षर याने बद्ध मुक्त जीवोंका स्वरूप तथा परमात्माका पुरुषोत्तमत्व और सामर्थ्य कहते भये अब सोरहें अध्यायमें जीवकी शास्त्रवश्यता और दैवासुरसंपत्तिविभाग कहेंगे॥

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ॥
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ॥
दया भूतेष्वलोलुत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ॥
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहतेहैं कि, हे भारत ! दैवी संपदाको प्राप्त भये मनुष्यको निर्भय रहना अंतःकरणकी शुद्धि प्रकृतिसे भिन्न आत्मा है ऐसी निष्ठा सुपात्रको कुछ देना और मनको विषयोंसे निवृत्त करना और निष्कामतासे भगवान्के पूजनरूप पंचमहायज्ञोंका करना वेदमंत्रादिकोंका जप एकादशीव्रतादिरूप तप सर्वसे सरल रहना जीवमात्रको पीडा न देना हित और यथार्थ भाषण क्रोधका न करना उदारता शांति याने इंद्रियोंको वशकरना चुगली न करना भूतप्राणिमात्रपरे दया परस्त्रीधनादिपर इच्छा न करना अक्रूरता लज्जा व्यर्थकामका न करना तेज क्षमा याने सहनशीलता धीरज पवित्रता द्रोहको न करना मानप्राप्तिके वास्ते अतिमानका न करना ये २६ गुण दैवीसंपदाके होतेहैं ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ॥
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

हे पृथापुत्र ! आसुरी संपदाको प्राप्तभये मनुष्यके दंभ, दर्प और अभिमान क्रोध और कटुभाषण और अज्ञान ये लक्षण होतेहैं ॥ ४ ॥

दैवीसंपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ॥
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोसि पांडव ॥ ५ ॥

हे पांडुपुत्र ! दैवीसंपदा मोक्षके वास्ते है आसुरी बंधनके वास्ते निश्चय कीगई है तुम दैवीसंपदाको प्राप्तभयेहो मति शोचो ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुरएव च ॥
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! इस लोकमें दो प्रकारके प्राणीहैं एक दैव और दूसरे आसुर दैव विस्तारसे कहा और मुझसे आसुरको सुनो ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ॥
न शौचं नाऽपि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

असुरस्वभाववाले मनुष्य संसारसाधन और मोक्षसाधनभी नहीं जानतेहैं इनमें न शुचिता और न शास्त्रीय आचरण न सत्यभी रहताहै ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ॥
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे असुरप्रकृति मनुष्य इस जगत्को कोई तो असत्य याने मिथ्या और भ्रम कहतेहैं कोई अप्रतिष्ठ याने इसका कोई आधार नहीं ऐसा कहतेहैं कोई अनीश्वर कहतेहैं स्त्रीपुरुषके परस्परसंयोगसे भये बिना और जगत् क्या है केवल कामहीके निमित्तसे याने स्त्रीपुरुषके संयोगहीसे होताहै ऐसा कहतेहैं ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ॥
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

वे अज्ञानी जन खानपानादिके अल्पपदार्थमें बुद्धिवाले ऐसी समुझेको ग्रहणकरके उग्रकर्मकरनेवाले याने परस्त्री धन पुत्रादिकोंके हरण करनेवाले सबके अहित जगत्के नाशके वास्ते प्रवृत्त होते हैं ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुःपूरं दंभमानमदान्विताः ॥
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्त्तंतेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

जो दुःखसे भी न पूरी होय ऐसी कामनाको आश्रितहोके दंभ मान और मदयुक्त भयेहुये मोहसे असद्ग्राहोंको ग्रहणकरके याने

मारण मोहन वशीकरणके उपाय करना ऐसे भ्रष्टआचारनको स्वीकार करके अपवित्रव्रत भूतादि सेवनेवाले भयेहुए उनही कामों में प्रवृत्त होतेहैं ॥ १० ॥

चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः ॥
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

अपार और मरणांत चिंताको प्राप्तभये हुवे कामोपभोगमें तत्पर इतनाही सुखहै ऐसे निश्चयकियेभये ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ॥
ईहंते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

सैकडों आशाकी फाँसिनकरके बँधेभये काम और कोपके स्वाधीन भये कामभोगके वास्ते अन्यायकरके द्रव्यसंचयको उपायकरते रहतेहैं ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ॥
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

मैंने आज यह पाया इस मनोरथको पावूंगा मेरे यह धन है फिर यहभी होयगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

मैंने यह वैरी मारा और औरनकोभी मारूंगा मैं ईश्वरहूं मैं भोगीहूं मैं सिद्धहूं मैं बलवानहूं मैं सुखीहूं ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ॥
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

मैं योग्यहूं उत्तम कुलमें जन्माहूं मेरे समान और कौन है यज्ञ करूंगा दान देऊंगा आनंद करूंगा ऐसे अज्ञानमें मोहेरहतेहैं॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रांता मोहजालसमावृताः ॥
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अनेकजगह चित्त लगनेसे भ्रमितहुये मोहके जालमें फँसेभये कामभोगमें आसक्त वे अपवित्र नरकमें पड़तेहैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ॥
यजंते नामयज्ञैस्ते दंभेनाऽविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

जो आपको आपही श्रेष्ठ मानिरहेहैं और अनम्र हैं धन मान मदयुक्त हैं वे दंभसे अविधिपूर्वक नाममात्र यज्ञोंकरके यजन करतेहैं॥१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ॥
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अहंकार बल दर्प काम और क्रोधका आश्रयकर रहेहैं ऐसे वे आपके और औरोंके देहोंमें रहेभये मेरेसे द्वेष करतेभये मेरी निंदा करतेहैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ॥
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

मैं उन द्वेषकरनेवाले क्रूर अशुभ नराधमोंको संसारमें आसुरीही योनिनमें वारंवार पटकताहूं ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ॥
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यांत्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

हे कुंतीपुत्र! वे मूर्ख जन्मजन्ममें आसुरी योनिको प्राप्तभयेहुये मेरेको न प्राप्तहोके फिर अधम गतिको प्राप्तहोतेहैं ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ॥

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

कामना, क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकारका नरकका द्वार आपका नाशनेवालाहै याने संसारमें भ्रमानेवालाहै इससे इन तीनोंको त्यागना ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ॥
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

हे कुंतीपुत्र ! इन तीनों नरकद्वारोंकरके छुटाभया मनुष्य आपके कल्याणका साधन करताहै उससे परम पदको प्राप्तहोताहै ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ॥
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥ २३ ॥

जो शास्त्रविधिको त्यागिके स्वइच्छाप्रमाण चलताहै सो न सिद्धिको पावताहै न सुखको न मोक्षको पावताहै ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ॥
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नामषोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इससे तुमको कार्याकार्यव्यवस्थामें शास्त्रहीप्रमाणहै यह जानिके इस लोकमें शास्त्रविधानोक्त कर्म करनेको योग्यहो ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्सुकलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्गीतामृततरंगिण्यां षोडशाध्यायप्रवाहः ॥ १६ ॥

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजंते श्रद्धयान्विताः ॥

तेषां निष्ठां तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

सोलहवें अध्यायमें ईश्वरतत्त्वका ज्ञान और ईश्वरप्राप्तिका उपाय इनके कारण मूल वेदही हैं ऐसे कहा और अंतमें कहा कि, शास्त्रविधिहीन कर्म करनेवालेको सुखादिक नहीं सो सुनिके अर्जुन बोले कि, हे कृष्ण ! जो शास्त्रविधिको त्यागिके श्रद्धाकरके युक्त यजन करतेहैं उनकी क्या निष्ठाहै सत्त्वगुण है किंवा रजोगुण है या तमोगुण है ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवंति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

अर्जुनका प्रश्न सुनिके श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि, सात्त्विकी और राजसी और तामसी ऐसे तीनप्रकारकी निश्चय श्रद्धा होतीहै सो देहधारिनकी स्वभावहीसे होतीहै उसको सुनो ॥ २ ॥

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवंति भारत ॥
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत ! सबकी श्रद्धा अंतःकरणके अनुरूप होतीहै यह पुरुष श्रद्धामयहै जो जिसश्रद्धावाला होताहै सो वही होताहै जैसे सात्विकी श्रद्धावाला सात्विक इत्यादि ॥ ३ ॥

यजंते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ॥
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्विक पुरुष देवतानको पूजतेहैं राजसी यक्षराक्षसोंको और और तामसी जन प्रेत भूतगणोंको पूजतेहैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यंते ये तपो जनाः ॥

दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्शयंतः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ॥
मां चैवांतःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

दंभ और अहंकारसंयुक्त कामना और विषयानुराग इनहीकी सेनायुक्त जे मनुष्य वे अशास्त्रविहित याने जो शास्त्रप्रसिद्ध नहीं ऐसे घोर तपको तपतेहैं वे अज्ञानी जन शरीरमें रहेभये भूतसमूहको और अंदर शरीरमें स्थित मेरेको भी दुःख देतेहैं उनको आसुरनिश्चय याने असुरपनेमें निश्चय जिनका ऐसे उनको जानो ॥ ५ ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ॥
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहार भी सबका तीनप्रकारका प्रिय होताहै और यज्ञ तथा तप दान येभी तीनि प्रकारके हैं तिनका भेद यह सुनो ॥ ७॥

आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ॥ रस्याः
स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकाप्रियाः ॥ ८ ॥

जो आहार आयुष्य होशियारी बल आरोग्य सुख और प्रीतिके बढानेवाले होयँ मधुरादिरसयुक्त स्निग्ध स्थिर याने बहुतकाल रहनेवाले हृदयका वर्द्धक ऐसे आहार सात्विक जनोंको प्रिय होतेहैं॥ ८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ॥
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

अतिकटु जैसे बहुत मिर्चवाला पदार्थ अतिखट्टा अतिलोनवाला वडावगैरे अति गरमागरम अतितीक्ष्ण राईवगैरह मिश्रित अति रूखे और दाहकारक राजसिनके प्रिय आहार दुःख शोक और रोगोंके देनेवाले होतेहैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ॥
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

जिसे भातवगैरेको एक पहर बिता होय वह ठंढा पदार्थ रसविहीन दुर्गंधवाला और बासी और उच्छिष्ट भी ऐसा अपवित्र भोजन तामसिनेको प्रिय होताहै ॥ १० ॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ॥
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥ ११ ॥

यज्ञकरनाही योग्यहै ऐसे मनको समाधानकरके फल-इच्छारहित मनुष्योंने विधिपूर्वक जो यज्ञ कियाहोय सो यज्ञ सात्विक ११

अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ॥
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो फलकी इच्छाकरके और दंभके वास्तेभी यज्ञ करे इस यज्ञको राजस जानो ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ॥
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

जो यज्ञ विधिहीन उचित अन्नहीन मंत्रहीन दक्षिणारहित और श्रद्धारहित यज्ञ तामस कहाहै ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ॥
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देव ब्राह्मण गुरु और विद्वानोंका पूजन शुचिता सरलता ब्रह्मचर्य और परपीडावर्जन यह शरीरसंबंधी तप कहाहै ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ॥
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

जो वचन उद्वेगकारक न होय और सत्य प्रिय हितहोय और वेद-पाठ मंत्रजपादिकका अभ्यास यह वाणीमय तप कहा है ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ॥
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनकी प्रसन्नता सदयपना याने क्रूर न होना मितभाषण मनको वश करना और अंतःकरणकी शुद्धता यह इतना तप मानस कहाताहै ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ॥
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

फलकी इच्छा नकरनेवाले योग्य पुरुष तिनकरके परम श्रद्धा-करके तपाभया सो तीनों प्रकारका याने मानस, कायिक, वाचिक तप सात्त्विक कहाहै ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ॥
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

जो तप सत्कार मान और पूजाके वास्ते और दंभकरके भी किया जाताहै सो यहां शास्त्रमें राजस चल और नाशमान् कहाहै १८

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ॥
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

जो तप दुराग्रह करके आपकी पीडाका निमित्त अथवा दूस-रेके बिगाडके वास्ते कियाहोय सो तामस कहाहै ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ॥
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् २० ॥

जो दान देनाही चाहिये ऐसी बुद्धिकरके कुरुक्षेत्रादि देशमें और ग्रहणादिककालमें जिससे फिर कुछ अपना उपकार न होय

देशको तथा वह पात्र याने तपःस्वाध्यायकरके रक्षक होय उसको दियाजावै सो दान सात्विक कहाहै ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ॥
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

जो प्रत्युपकारके वास्ते अथवा फलके निमित्तकरके फिर भी राहुवगैरह ग्रहनिमित्त व्ययदान दियाजाय सो राजस कहाहै ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ॥
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो दान तिरस्कार अवज्ञापूर्वक देशकालविना और कुपात्रोंको दियाजाताहै सो दान तामस कहाहै ॥ २२ ॥

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

ओं तत् सत् ऐसे तीन प्रकारका वेदका निश्चय जानागया है "याने ओंशब्दसे कर्मका स्वीकारकरना उचित है तत् शब्दसे तदर्थ याने परमेश्वरार्थ करना उचितहै सत्से श्रेष्ठकर्म साधुवृत्तिसे करना ऐसा वेदका निश्चय है" उसी निश्चयकरके युक्त ब्राह्मण याने वेदकर्म करनेवाले तीनों वर्ण कर्मस्वीकारार्थ और वेद जो ईश्वरार्थकर्मको प्रतिपादन करतेहैं और यज्ञ दान जो सत्कर्म ये मैं ने पूर्वकालमें स्थापितकिये हैं ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ॥
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

जिससे कि, वेदवादी तीनोंवर्णकर्म स्वीकारार्थ हैं तिससे ओं ऐसे कहिके याने कर्मस्वीकार करके वेदवादी तीनोंवर्णोंकी विधिसे कहीभई यज्ञ दान तपकी क्रियायें निरंतर प्रवृत्त होतीहैं ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ॥
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियंते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

तत् याने कर्म तदर्थहै याने परमेश्वरार्थहै ऐसी बुद्धिसे फलका अनुसंधान नहीं करके यज्ञ, दान, तप, क्रिया और अनेकप्रकारकी दानक्रिया मोक्षके चाहनेवालों करके कीजातीहै ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ॥
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! श्रेष्ठपनेमें और साधुभावमें सत् ऐसा यह शब्द युक्त करतेहैं तथा श्रेष्ठ कर्ममेंभी सत्शब्द युक्तकरते हैं ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ॥
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाऽभिधीयते ॥ २७ ॥

जो यज्ञमें, तपमें और दानमें स्थिति है सो सत् ऐसे कहातीहै और जो ईश्वरार्थ कर्महै सो सत् निश्चयहै ऐसे कहतेहैं इन चारों श्लोकोंमें ओंतत् सत् इनका खुलासा कियाहै ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ॥
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगोनाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

हे पृथापुत्र ! जो श्रद्धाविना होमाभया हवन दियाभया दान तपाभया तप और क्रियाभया कर्महै सो असत् ऐसा कहाताहै और सो न परलोकमें न इस लोकमें सुखदायक है ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्सुकलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां सप्तदशाध्यायप्रवाहः ॥ १७ ॥

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अब इस अठारहवें अध्यायमें सर्वगीताका सारांश निरूपण होय. तहां अर्जुन प्रश्नकरतेहैं कि, हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! संन्यासका और त्यागका तत्त्व न्यारा न्यारा जाननेको चाहताहूं ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ॥
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

ऐसा अर्जुनका प्रश्न सुनिके श्रीकृष्ण भगवान् बोलते भये कि, कवि जो सारासारविवेकी वे कामनावाले कर्मोंके छोड़नेको संन्यास जानतेहैं और विचक्षण जो तत्त्वज्ञानीहैं वे सर्व कर्मोंके फलत्यागको त्याग कहतेहैं ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कोईएक ज्ञानिपुरुष दोषवाला कर्म त्यागनाचाहिये ऐसे कहते हैं और कितनेक और आचार्य यज्ञ, दान, तप कर्म नहीं त्यागना चाहिये ऐसेकहतेहैं ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ॥
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः परिकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

हे भरतसत्तम ! उस त्यागमें मेरा निश्चय सुनो हे पुरुषनमें श्रेष्ठ ! जिससे कि, त्याग तीनि प्रकारका कहा है तिसीसे यज्ञ, दान, तपरूप कर्म नहीं त्यागना, करनाही योग्य है यज्ञ, दान और तप ये ज्ञानिनको भी पवित्र करनेवाले हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ॥
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! ये यज्ञादिकेभी कर्म ममता और फलोंको त्यागि के करनेयोग्य हैं ऐसा निश्चय कियाभया मेरा उत्तम मतहै ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

कारण कि, जो नियमित संध्यादि पंचमहायज्ञादिकहैं उन कर्मका त्याग नहीं होसकताहै जो मोहसे उसका त्याग किया सो तामस कहाताहै ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ॥
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

जो कर्म दुःख ऐसे शरीरक्लेशके भयसे ही त्यागै सो राजस त्यागको करके त्यागफलको नहीं पावताहै ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ॥
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! जो कर्म करनेयोग्य ऐसी बुद्धिसेही ममता और फलको त्यागिके नियमित याने उचित ऐसीही बुद्धिसे करै सो त्याग सात्त्विक मानाहै ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ॥

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

जो सत्त्वगुणयुक्त बुद्धिमान् संशयरहित कर्मफलत्यागी है सो अकुशलको याने संसारकारक कर्मको नँ निंदताहै नँ कुशल याने यज्ञादिकैं तिनमें आसक्त होताहै ॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

जिसवास्ते कि, देहधारीकरके सर्व कर्म त्यागनेको नहीं होसकताहै तिससे जो कर्मफलका त्यागीहै सो त्यागी ऐसा कहाताहै॥ ११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ॥
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न च संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

अप्रिय, प्रिय और मिश्रित ऐसे कर्मको तीन प्रकारका फल कर्मफलानुरागिनको मरेपर होताहै और कर्मफलत्यागिनको कहीं भी नहीं ॥ १२ ॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ॥
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

हे महाबाहो ! सर्वकर्मोंकी सिद्धिके वास्ते ये पांच कारण सांख्यसिद्धांतमें कहेभये मेरेसें सुनो ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ॥
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥

वे ये कि, अधिष्ठान याने आधार अर्थात् शरीर तथा कर्त्ता याने जीव इस जीवके कर्त्तापनमें "ज्ञातएवचकर्त्ताशास्त्रार्थत्वात्" यह ब्रह्मसूत्र प्रमाणहै और न्यारे न्यारे प्रकारके करण याने मनसहित पंच इंद्रियोंके व्यापार और अनेकप्रकारकी न्यारी न्यारी चेष्टा याने पांच

प्राणवायुनकी चेष्टा और यहां पांचवां दैव याने अंतर्यामी अर्थात् मैं हूं इस विषयमें "परात्तुतच्छ्रुतेः" यह ब्रह्मसूत्रभी प्रमाणहै यहां शंकासमाधान वाक्यार्थबोधिनीमें कियाहै ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभतेऽर्जुन ॥
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः॥१५॥

हे अर्जुन ! शरीर वाणी और मन करके जो न्याय्य अथवा अन्याय्य जो कर्म प्रारंभ करा जाताहै तिसके ये पांचे कारण हैं॥१५॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ॥
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

ऐसे सिद्धांत होनेपर भी तहां जो केवल आत्माको कर्त्ता जानताहै सो दुर्बुद्धिपुरुष अकृतबुद्धित्व से याने यथार्थ निश्चयकारक बुद्धिहीन है तिससे नहीं जानताहै ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ॥
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हंति न निबध्यते ॥ १७ ॥

जिसके आपके कर्त्तापनेका भाव नहीं है जिसकी बुद्धि कर्ममें नहीं लिप्तहोतीहै सो इन लोकनको मारके भी न मारताहै न पापमें बंधताहै तात्पर्य कि, तुम भीष्मादिके वधसे डरते हो तहां जो मनुष्य ममता अहंतारहित होके स्वधर्माचरण करताहै उसको उस कर्मजन्य पापपुण्यका भय नहीं ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ॥
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञान जो कर्त्तव्यकर्मका जानना ज्ञेय जो वह कर्म परिज्ञाता उसके सम्यक् जाननेवाला ऐसे तीन प्रकारका शास्त्रविधान है तहां करणं

जो कर्मकरनेकी साधनसामग्री जैसे यज्ञमें स्रुवादिक युद्धमें शस्त्रादिक कर्म जो करना होय कर्त्ता करनेवाला ऐसे तीनि प्रकारका कर्मके वास्ते संग्रह है अर्थात् इनहीसे होसकेगा इन विना नहीं ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्तेति त्रिधैव गुणभेदतः ॥
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञान कर्म और कर्त्ता ऐसे ये गुणभेदकरके सांख्यशास्त्रमें तीन प्रकारहीके केहहैं उनको भी यथावत् सुनो ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ॥
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिस ज्ञानकरके ब्राह्मणक्षत्रियादि विभागयुक्त सर्वभूतोंमें विभाग-रहित याने आत्मा सर्वमें समान है ऐसा अविनाशी एक भावको देखताहो उसे ज्ञानको सात्त्विक जानना ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ॥
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

और जो सर्वभूतोंमें अनेक ब्राह्मणादिक छोटे बडे उत्तम मध्यम भेदयुक्त आत्मनकोभी उत्तम मध्यम न्यारे न्यारे जानताहै ऐसा जो न्यारेपनेकरके जो ज्ञानहै उस ज्ञानको राजस जानो ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ॥
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो कि एकही कर्ममें सक्त याने आसक्त सर्वफलयुक्त जाने और वह निरर्थ होय कारण कि, जिसमें तत्त्वार्थ नहीं और तुच्छ याने भूतादि आराधनरूप ज्ञान सो तामस कहाहै ॥ २२ ॥

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ॥

अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

जो कर्मफलकी इच्छा न करनेवालेने नियत याने कर्त्तव्य फलासंगरहित और रागद्वेषविना किया होय सो सात्त्विक कहाहै ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ॥
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

जो बहुत परिश्रमयुक्त कर्म कामनाकी प्राप्ति इच्छाकरके अथवा फिर अहंकारसहित कियाहोय सो राजस कहाहै ॥ २४ ॥

अनुबंधं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ॥
मोहादारंभते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

कर्मके परिणामका दुःख द्रव्यादिकका क्षय उस कर्ममें प्राणिपीडा और आपके पुरुषार्थको न देखि के मोहसे जो कर्म आरंभ कियाजाताहै सो तामस कहाताहै ॥ २५ ॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ॥
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते २६

जो पुरुष कर्मफलासक्तिरहित मैं कर्त्ता हूं ऐसे न कहनेवाला धीरज और उत्साहयुक्त सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकारहोय सो कर्त्ता सात्त्विक कहाताहै ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ॥
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

जो कर्ममें आसक्त कर्मफलके चाहनेवाला लोभी याने कर्ममें यथार्थ खर्चका न करनेवाला प्राणिपीडा करनेवाला अपवित्र हर्षशोकयुक्त सो कर्त्ता राजस कहाहै ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ॥
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

जो शास्त्रोक्त कर्मके अयोग्य विद्याहीन अनम्र मारणादिकमेंतत्पर ठग आलसी विषाद करनेवाला और घड़ीके काममें एक दिन बितानेवाला सो कर्त्ता तामस कहाताहै ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ॥
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

हे धनंजय ! संपूर्णपनेकरके मेरा कहाभया न्यारा न्यारा गुणोंके-रके तीनिप्रकारका बुद्धिका और धीरजका भेद सुनो ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ॥
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ३०॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिको और निवृत्तिको कार्य अकार्यको और भय अभयको बंधको और मोक्षको जानतीहै सो सात्त्विकी ॥३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ॥
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१॥

हे पृथापुत्र ! जिस बुद्धिकरके धर्मको और अधर्मको तैसे कार्यको और अकार्यको भी उलटा जाने सो बुद्धि राजसी ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ॥
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि अज्ञानकरके ढकीभई अधर्मको धर्म ऐसा माने और सर्व अर्थोंको उलटे माने सो तामसी ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेंद्रियक्रियाः ॥
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ३३

हे पार्थ ! जिस अखंडमोक्षसाधनरूप धारणाकरके योगबलसे मन प्राण और इंद्रियनकी क्रियोंको धारणकरै सो धारणा सात्त्विकी ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयते नरः ॥

प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

हे पार्थ ! फलकी इच्छा करनेवाला पुरुष फलइच्छाप्रसंगसे जिसे धारणाकरके धर्म अर्थ कामोंको धारणकरै सो धारणा राजसी ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ॥
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥ ३५ ॥

दुष्टबुद्धिपुरुष जिस धारणाकरके स्वप्न भय शोक विषाद और मद इनको नहीं त्यागताहै सो धारणा तामसी मानतेहैं ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ॥
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ॥
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब सुखभी तीनप्रकारका मेरेसे सुनो सो ऐसे कि, जिस सुखमें अभ्यासकरनेसे मन रमताहै और दुःखकानाश होताहै जो उसके प्रथम विषतुल्य अंत में अमृततुल्य सुख वह आत्मबुद्धि-की प्रसन्नतासे उत्पन्न सुख सात्त्विक कहाहै ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ॥
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

जो विषयेंद्रियके संयोगसे प्रारंभमें अमृततुल्य अंतमें विषतुल्य सो सुख राजस कहाहै ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः ॥
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो प्रारंभमें और अंतमें भी आपका मोहक सो निद्रा आलस और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहाहै ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ॥

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

जो वस्तु प्रकृतिसे उत्पन्न इन सत्त्वादि तीन गुणोंकरके मुक्त होय सो पृथिवीमें अथवा स्वर्गमें अथवा फिर वहांही देवनमें नहीं है ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ॥
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

हे परंतप ! ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंके और शूद्रोंके स्वभावसे उत्पन्न गुणोंकरके कर्म न्यारे न्यारे कियेहैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च ॥
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शम जो बाह्यइंद्रियोंका संयम दम अंतःकरणका संयम तप शास्त्रोक्त व्रतादिक शौच बाह्य और आभ्यंतर क्षमा और सरलता ज्ञान स्वस्वरूप परस्वरूपका जानना विज्ञान जो स्वरूपज्ञानभये पर ईश्वरभक्तिकरना आस्तिक्य जो वेदशास्त्रवाक्योंमें विश्वास ये ब्राह्मणके कर्म स्वभावही से हैं ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ॥
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शूरपना तेज याने जिससे दूसरे डरैं धीरज चतुराई और युद्धमें भागना नहीं उदारता और प्रजाको स्वाधीन रखना यह क्षत्रियका कर्म स्वभावज है ॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

खेती गोपालना वाणिज्य करना यह वैश्यकर्म स्वभावसे हैं तीनों वर्णकी सेवारूप कर्म शूद्रका स्वभावसे है ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

ऐसे आपआपके कर्ममें तत्परभयाहुआ मनुष्य सिद्धिको याने मोक्षको प्राप्तहोताहै स्वकर्मनिष्ठ पुरुष जैसे मुक्तिको पाताहै सो सुनो ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥४६॥

जिस ईश्वरसे भूतप्राणिनकी उत्पत्ति रक्षण है जिसकरके यह सर्व व्याप्त है उस ईश्वरको आपके स्वभावज कर्मकरके पूंजिके मनुष्य मोक्षको प्राप्तहोताहै ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ॥
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अतिउत्तम परधर्मसे आपकाधर्म गुणहीनभी कल्याणकारक है आपके जातिविहित कर्म करताभया पापको नहीं प्राप्तहोताहै तात्पर्य तुम्हारा हिंसात्मक भी धर्म है तौ भी तुम्हारा कल्याण उसीसे है४७॥

सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत् ॥
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

हेकुंतीपुत्र ! दोषयुक्तभी आपके वर्णोचित धर्मको न त्यागनो क्योंकि, सर्व ज्ञानकर्मादिक आरंभ दोषकरके धुंवाकरके अग्नि ऐसे युक्त हैं ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ॥
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सर्वकर्मोमें बुद्धिको आसक्त न करनो मनको वश किये भये

वांछारहित पुरुष परम नैष्कर्म्यसिद्धिको याने आत्मज्ञानको फल त्यागकरके प्राप्तहोताहै ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ॥
समासेनैव कौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

हे कुंतीपुत्र ! उस आत्मज्ञानको प्राप्तभयाहुआ जैसे ब्रह्मको प्राप्तहोताहै तैसे संक्षेपकरके मेरेसे सुनो जो ध्यानात्मज्ञानकी परम निष्ठा है याने उपायकी सीमा है ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ॥
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ॥
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ॥
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

सो जैसे कि, शुद्धबुद्धिकरके युक्त और धारणासे मनको वश करके शब्दादिक विषयोंको त्यागिके और रागद्वेषोंको त्यागिके एकांत बैठाभया अल्पाहारी शरीर वाणी और मनको वशकियेभये नित्य ध्यानयोगपरायण वैराग्यको धारणकियेभये अहंकार बल दर्प काम क्रोध ममता इन सबको त्यागिके निर्मम शांत ऐसा पुरुष आत्मज्ञानमय होताहै ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ॥
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

ऐसे आत्मज्ञानमय भयाहुआ प्रसन्नमनयुक्त न कोई वस्तु मेरे सिवा-न जोगई तो उसको शोचताहै न चाहताहै सर्व भूतोंमें समदृष्टिभया-हुआ अतिउत्तम मेरी भक्तिको प्राप्तहोताहै याने सर्व जगत्को

मेरे शरीरभूत मेरी परमविभूति जानिके पक्षपातरहित सर्वमें मेरे-
हीको देखताभया मेराही स्मरण उनमें करताहै कि, ये सब मेरे
स्वामीके हैं यही परमभक्ति है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ॥
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥ ५५ ॥

मैं जितना और जो हौं तितना और तिस मेरेको भक्तिकरके
निश्चयपूर्वक जानताहै फिर मेरेको निश्चयपूर्वक जानिके मेरेहीको
उसपीछे प्राप्तहोताहै ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ॥
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

मेरा आश्रितजन सर्व लौकिक वैदिक कर्मनकोभी सदा कर्ता-
भया मेरे अनुग्रहसे सनातन नाशरहित पदको प्राप्तहोताहै ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ॥
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

मेरे परायण भयेहुये चित्तकरके सर्वकर्मोंको मेरेमें स्थापितक-
रके याने मेरे अर्पणकरके ज्ञानयोगका आश्रयकरके निरंतर मेरेमें
चित्तको लगायेभये स्थितरहो ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

मेरेमें चित्तलगायेभये मेरे अनुग्रहसे सर्वसंसारदुःखोंको तरोगे
जो कदाचित् तुम अहंकारसे मेरा उपदेश न सुनोगे तो नष्टहोउंगे ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ॥
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

जो अहंकारका आश्रयकरके न युद्धकरोगा ऐसे मानोगे सो भी

तुम्हारा निश्चय वृथा होयगा क्योंकि, तुमको तुम्हारा जातिस्वभाव ही युद्धमें लगायदेयगा ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ॥
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोपि तत् ६०

हे कुंतीपुत्र! जो युद्ध मोहसे करनेको नहीं चाहते हो सो आपके क्षत्रियस्वभावजन्य आपके कर्मकरके बंधेभये परवशभये भी करोगे॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

हे अर्जुन ! ईश्वर आपकी मायाकरके यंत्र जो शरीर तिनमें रहेभये सर्वभूतोंको भ्रमाताभया सर्वभूतोंके हृदयस्थलमें स्थित है ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ॥
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्६२

हेभारत ! सर्वभावनाकरके उसी परमात्माके शरण होउ उसीके अनुग्रहसे परम शांति और सनातन स्थानको प्राप्तहोवोगे ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ॥
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

मैंने यह गोप्यसेभी गोप्य ज्ञान तुमको कहा इसको अच्छीतरहसे विचारके जैसा चाहो तैसा करो ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ॥
इष्टोसि मे दृढमतिस्ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

सर्वगोप्यनमें भी अतिगोप्य मेरा परम वाक्य फिर सुनो मेरे अतिदृढ प्रियहो तिससे तुमको यह हित उपदेश करताहूं ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ६५॥

मेरेमें मनको लगावो मेरे भक्त होउ मेरा पूजनकरनेवाले होउ मेरेको नमन करो और ऐसे करनेसे मेरेको ही प्राप्तहोउगे तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करताहूं क्योंकि, मेरे प्रियहो ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

हे अर्जुन ! तुम सर्वधर्मोंको परित्यागि के याने सर्वधर्मोंके फलको त्यागिके अर्थात् "यत्करोषि यदश्नासि इत्यारभ्य तत्कुरुष्व मदर्पणम्" इस रीतिसे मेरे अर्पणकरके मुख्य मेरे शरण प्राप्त होउ अर्थात् "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः" इस प्रमाणसे मेरेको पूज्य और मेरेको प्राप्य जानिके मेरी आज्ञा करो याने मेरा पूजन जानिके स्वधर्मरूप युद्धकरो मैं तुमको इन भीष्मादिकोंको युद्धमें मारने इत्यादिक सर्वपापोंसे मुक्तकरौंगा तुम मति शोचकरो यहां इस श्लोकमें कोई विद्वद्दूषण अर्थ करते हैं कि, चातुर्मास्ययाग श्राद्ध पितृतर्पण इत्यादिकर्मरूप धर्मोंको त्यागिके मेरे शरण होउ याने मेरेको और आपको एकही जानो इस एकताज्ञानरूप भक्ति करो तब विचारना चाहिये कि, प्रथम तो "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" इत्यादिप्रमाणसे जीवब्रह्मकी स्वरूपएकता नहीं होसकतीहै मुक्तभयेपरभी "मम साधर्म्यमागताः" और "भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च" तथा "निरंजनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादिक गीताब्रह्मसूत्र और श्रुतिप्रमाणसे भी भोगादिकमें समता होती है एकता नहीं जहां एकता भी कहीहै तहां अंतर्यामिभावसे अथवा "द्वासुपर्णा" इत्यादिश्रुतिप्रमाण सखापनसे कहीहै दूसरे 'भज सेवायां' धातुका भक्ति शब्द होताहै भक्ति याने सेवा सो भी एकतामें बननेकी नहीं इससे जीव परमात्मासे न्यारे परमात्माके स्वाधीन हैं यह सिद्ध भया तब जो अर्थ किया कि, मेरी और आपकी एकतारूप भक्तिकरो सो यह अर्थ तो सिद्धभया नहीं अब जो धर्मको त्यागनेका अर्थ किया तहां "धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे। श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः। स्वधर्मे निधनं श्रेयः"

इत्यादि वाक्योंमें विरोध आताहै इसवास्ते सर्वधर्मोंका फलत्यागिके निष्काम और ईश्वरपूजनरूप जानिके करना यही सिद्धहोताहै यहां इसी अध्यायमें प्रमाणहै "निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ॥ त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः परिकीर्त्तितः" यहांसे लेके "संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ यस्तु कर्मफलत्यागी सत्यागीत्यभिधीयते" इत्यादि और भी कहेहैं ग्रंथबढनेके भयसे नहीं लिखतेहैं सुज्ञजन इतनेहीमें समुझिके धर्माचरण करेंगे ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाऽभक्ताय कदाचन ॥
नचाऽशुश्रूषवे वाच्यं नचमां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

हे अर्जुन ! यह मेरा गोप्य उपदेश तुमें जिसने तप नकियाहोय उसको न कहना तथा कभी भी मेरा और मेरे जनोंका भक्त न होय उसको न कहना और जो गीताउपदेष्टाकी सेवा नकरै उसको भी न कहना और जो मेरी निंदाकरै उसको तुम न कहना ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ॥
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

जो इस परमे गोप्य गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें प्रसिद्ध करैगा वह मेरेमें सर्वोत्तम भक्ति करके मेरेहीको प्राप्तहोगा इसमें संशयनहीं ६८

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ॥
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

उस गीताको भक्तोंमें प्रसिद्धकरनेवालेसे अधिक मेरा प्रियकारक पृथिवीमें दूसरा मनुष्योंमें कोईभी नहीं है और न उसकी बराबर और मेरेको प्रिय होगा ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ॥
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

जो मेरे तुम्हारे इस धर्मवर्द्धक संवादरूप गीताका अध्ययन करेगा उस करके मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊंगा ऐसा मैं मानताहूं ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयुश्च शृणुयादपि यो नरः ॥
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ७१

जो निंदारहित और श्रद्धायुक्त श्रवणभी करेगा सोभी संसारसे मुक्त होके पुण्यकर्म करनेवालोंके सुखद लोकोंको प्राप्त होयगा ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ॥
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

भगवान् पूंछतेहैं कि, हे पृथापुत्र ! इस ज्ञानको तुमने एकाग्र चित्तसे सुना कि नहीं, और हे धनंजय ! जो सुना होय तो अज्ञानजन्य मोह तुम्हारा नष्ट भया कि नहीं सो कहो ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ॥
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

श्रीकृष्णके वचन सुनिके अर्जुन कहतेहैं कि, हे अच्युत ! तुम्हारे अनुग्रहसे मोह नष्टभया और मैंने ज्ञान प्राप्तकिया अब संदेहरहित स्थित हूं आपका वचन जो स्वधर्मरूप युद्धकरनेकी आज्ञा सो करोंगा ॥ ७३ ॥

संजय उवाच ।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहतेहैं कि, हेराजन् ! ऐसा यह श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुनका अतिअद्भुत रोमांचकारक संवाद मैं सुनताभया ७४

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ॥
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ७५

मैं यह अत्यन्त गोप्य प्रत्यक्ष स्वयंही योग कहतेभये योगेश्वर श्रीकृष्णके मुखसे वेदव्यासजीके अनुग्रहसे सुनताभया ॥ ७५ ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ॥
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

हेराजन् ! इस श्रीकृष्ण और अर्जुनके अद्भुत पुण्यदायक संवादको सुमिरि सुमिरिके वारंवार हर्षित होताहौं ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ॥
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनःपुनः ॥७७

हेराजन् ! इस अद्भुत भगवान्के रूपकोभी सुमिरिसुमिरिके मेरे बडा विस्मय होताहै और वारंवार हर्षित होताहौं ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ॥
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

हेराजन् ! जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहां अर्जुन धनुर्धारी हैं तहांही अचल संपदा अचलविजय अचलवैभव और अचल नीति है यह मेरा निश्चय मत है ॥ ७८ ॥

इति श्रीमत्शुकलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीताऽमृततरंगिण्यामष्टादशाध्यायप्रवाहः ॥१८॥

अंबराब्ध्यंकभूसंख्येविक्रमार्कस्यसंवदि ॥ माघमासेदलेशुभ्रेद्वितीयायांतिथौबुधे ॥ १ ॥ इयंसंपूर्णतांयातागीताऽमृततरंगिणी ॥ श्रीमद्भागवताचार्यानुग्रहात्सद्गुरुर्मम ॥ २ ॥

समाप्तोऽयं ग्रंथः ।

पुस्तकमिलनेका पता—खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) यन्त्रालयके मालिक—मुंबई.